सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 17

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोक्ष-शास्त्र

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला 13 से 14 भाग
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर - मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रकाशकीय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

श्रीमदुमास्वामी द्वारा प्रणीत 'मोक्ष शास्त्र' जैन धर्म व जिनशासन का प्राण है। प्रणेता ने छोटे छोटे सूत्रों में गागर में सागर भर दिया है। इस पर आठ दस शताब्दी पूर्व श्रीमद्भट्टाकलंकदेव, श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी जसे दिग्गजों ने टीकाएँ की हैं। परन्तु टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण जनसामान्य के उपयोग में नहीं आतीं।

यह समाज के परमहित व उपकार की बात है कि पूज्य गुरुवर्य्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये हैं। धर्म के मर्म को महाराज श्री ने किस प्रकार उजागर किया है, यह तो ग्रन्थ के अध्ययन से ही पता लगता है।

जिज्ञासु बन्धुओं से निवेदन है कि इस प्रवचन में संजोये रत्नों का लाभ उठायें जिससे मोक्ष मार्ग में प्रगति हो और सत्य सहज आनन्द प्राप्त हो।

मंगलाकांक्षी
मंत्री
सहजानन्द शास्त्रमाला
मेरठ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ॐ

मोक्ष शास्त्र प्रवचन

सप्तदश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्याय तीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृताम्
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुण लब्धये ॥

मोक्षशास्त्र में मोक्ष का मार्ग बताया गया है कि किस उपाय से संसारी जीव समस्त संकटों से छूटकर मुक्त हो जाते हैं। वह उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र का एकत्व। जैसा कि मोक्षशास्त्र के सर्वप्रथम सूत्र में कहा गया है। उससे आगे सम्यग्दर्शन के विषयभूत ७ तत्त्वों का वर्णन है। उनमें ये जीव पदार्थ का तो वर्णन हो चुका। अब अजीव पदार्थ विचार प्राप्त है, उसके भेद नाम बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः ……॥५–१॥

अजीवकायों की संज्ञा व अजीवकाय शब्द का वृत्त्यर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये ४ अजीवकाय हैं। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव और पुद्गल के चलने में निमित्तभूत हो। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो चलते हुए जीव पुद्गल के ठहरने में निमित्त कारण हो। आकाश द्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्यों का अवगाह देने में कारण हो, और पुद्गल द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाये जायें। तो ये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये ४ जीवकाय हैं। अजीवकाय का अर्थ है, अजीव होते हुए काय है अर्थात अजीव है और अस्तिकाय है। यहां यह समानाधिकरण वृत्ति है, कर्मधारय समास है। विशेषण विशेष्य के साथ जहां समास होता है वहां अन्य की व्यावृत्ति होती है। जैसे अजीवतो ५ हैं मगर वे सभी अस्तिकाय नहीं हैं। और अस्तिकाय भी ५ हैं मगर वे सभी अजीव नहीं है। तो अजीव होते हुए काय हों, ऐसे ये ४ पदार्थ ही हैं। जीव और काल अजीवकाय नहीं हैं। यद्यपि जीव अस्तिकाय है किंतु अजीव नहीं। कालद्रव्य अजीव है किंतु अस्तिकाय नहीं। अजीव होते हुए जो अस्तिकाय है वह ये ४ द्रव्य ही हैं।

अजीवकायाः पद में भिन्नाधिकरण वृत्ति समास में भी अनापत्ति का सोदाहरण विवरण—यहां यह जिज्ञासा होती है कि अजीव काय का समास समानाधिकरणरूप में किया है। यदि भिन्नाधिकरण रूप में समास किया जाय तो क्या हानि है? भिन्नधिकरणपने का अर्थ है जिसमें दोनों भिन्न हों। जैसे राजपुरुष, इसमें समास है राजा का पुरुष। तो ऐसे ही अजीवकाय, यहां समास कर दीजिए,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मगर उन परमाणुओं में मूर्तपना तो है। जहाँ अनेक परमाणु जब बद्ध हो जाते हैं तो वहाँ आकार फिर स्थूल हो जाने से इन्द्रियगम्य हो जाता है।

पुद्गल स्कन्धों की सावयवता की सिद्धि का उपसंहार—यह हठ करना ठीक नहीं है कि परमाणु इन्द्रियगम्य नहीं है, तो परमाणु का संयोग होने पर भी पिण्ड इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता। सभी को अनेक परमाणुओं का पिण्डरूप स्कन्ध मानना ही पड़ रहा है और जब स्कन्ध हैं ये सब, तो उनमें कुछ स्कन्ध संख्यात प्रदेश वाले हैं, कुछ असंख्यात प्रदेश वाले हैं, कुछ अनन्त प्रदेश वाले हैं। यहाँ प्रदेश शब्द से परमाणु का ग्रहण किया गया है। अनेक स्कन्धों का चक्षु इन्द्रिय द्वारा सम्व्यवहार प्रत्यक्ष हो ही रहा है। अब जो सूक्ष्म स्कन्ध हैं या मात्र परमाणु ही हैं उनको अनुमान या आगम ज्ञान से जान लिया जाता है। वस्तु की व्यवस्था प्रतीति के अनुसार होती है और प्रतीतियाँ उसी प्रकार होतीं जैसी कि वस्तु है। सो किसी पदार्थ में कोई तथ्य जान लिया उसके द्वारा उसके अज्ञानतत्त्व को जानने में कोई दोष नहीं आता। यों पुद्गल स्कन्ध कोई इन्द्रियगम्य हो जाता है और कोई इन्द्रियगम्य नहीं हो पाते। और ये सब स्कन्ध संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के पिण्ड रूप हैं इसी कारण इनमें ये अनेक प्रकार के प्रदेश बताये गये हैं। अब पुद्गल के प्रदेश इस सूत्र में कहे गये तो वहाँ एक आशंका हो जाती है कि पुद्गल परमाणु के भी ये प्रदेश होते हैं क्या? तो उसका उत्तर इस सूत्र में कह रहे हैं।

नाणोः ॥ ५-११ ॥

परमाणु का एक प्रदेशित्व—सूत्र का अर्थ तो इतना ही है कि परमाणु के नहीं है। इस सूत्र में दो पद हैं। न और अणोः। न शब्द तो अव्यय है और अणोः अणु शब्द की षष्ठी विभक्ति का एक वचन है, पर पूर्व सूत्र से शब्दों की अनुवृत्ति करने पर इसका सही अर्थ बनता है। वह अर्थ है कि परमाणु के संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश नहीं होते हैं। अर्थात् परमाणु केवल एक प्रदेश परिमाण वाला है। आकाश का एक प्रदेश का जितना परिमाण है उतना ही परिमाण परमाणु का है। क्योंकि परमाणु पुद्गल के अविभागी अंश को कहते हैं। परमाणु से छोटा पदार्थ जगत में कुछ नहीं है इसलिये अणु वह अविभागी पुदगल द्रव्य परमाणु है कि जिसका विभाग नहीं हो सकता, अर्थात् उसी परमाणु को तो आदि कहो, उसी को अन्त कहो और उसी को मध्य कहो, ऐसा परमाणु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकता। इस सूत्र का सामान्यतया यह अर्थ हो जाता कि परमाणु के प्रदेश नहीं हैं सो उससे यह न समझना कि परमाणु अप्रदेशी है, अनुवृत्ति से अर्थ लगाया गया कि परमाणु के अनेक प्रदेश नहीं होते। अगर परमाणु एक प्रदेशी भी नहीं है तो वह असत् हो जायेगा। प्रदेश-रहित कोई भी पदार्थ नहीं होता। यहाँ कोई एकान्तवादी कहता है कि परमाणु एक प्रदेश वाला भी नहीं होता। परन्तु उनका यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रदेशरहित परमाणु अवस्तु बन जायेगा। जैसे आकाश पुष्प खरविषाण ये कोई सत् पदार्थ नहीं है। इसमें प्रदेश ही नहीं हैं। यहाँ यह भी शंका न करना चाहिये कि यदि परमाणु को एक प्रदेश स्वरूप मान लिया जायेगा तो फिर वह प्रदेशी कैसे कहला सकेगा? प्रदेश मायने प्रदेश है और प्रदेशी मायने प्रदेश वाला है। धन और धन वाला जब ये एक तो नहीं कहलाते। तो प्रदेश और प्रदेश वाला ये भी एक न हो सकेंगे। यह शंका करना यों ठीक नहीं है कि एक प्रदेश वाला परमाणु स्पर्शन, रसना आदिक गुणों का आश्रयभूत है। सो परमाणु की दृष्टि से देखा तो वह प्रदेशमात्र है और जब गुणों के आश्रय की दृष्टि से देखा तो गुणाश्रय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पना है। तो जब निश्चय और अनिश्चय का निर्णय हो रहा है तो परमाणु अनेक स्वभाव वाला अपने आप सिद्ध हो गया। यहाँ यह समाधान न चलेगा कि निश्चय ज्ञान तो वस्तु को विषय नहीं करता और निर्विकल्प प्रत्यक्ष वस्तु को विषय करता है। सो निश्चय द्वारा कल्पित अंश जाना जाता। सो निश्चय अवस्तुभूत को जानता है, सो स्वभाव भेद नहीं हो सकता। शंकाकार यदि उक्त समाधान दे तब तो निश्चय की उत्पत्ति द्वारा जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रमाणपन सिद्ध करते हैं तो प्रमाणपन अप्रमाणपन की व्यवस्था उस सविकल्प ज्ञान से कैसे हो सकेगी, क्योंकि निर्णय करने वाले ज्ञान को अवस्तु विषयक बताया है। वह यथार्थ वस्तु को नहीं जानता। तो यथार्थ वस्तु को न जानने वाले सविकल्प ज्ञान से तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रमाणता कैसे सिद्ध करेंगे ? तो अवस्तुभूत ज्ञान से निर्विकल्प प्रत्यक्ष का प्रमाणपन सिद्ध कर बैठते हैं तो विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति के द्वारा उस दर्शन के प्रमाणपने और अप्रमाणपने की व्यवस्था बन बैठेगी। यहाँ यह बात स्पष्ट समझियेगा कि क्षणिकवाद के सिद्धान्त में निर्विकल्प प्रत्यक्ष को तो वस्तु का यथार्थ दर्शक बताया है परन्तु उसमें निश्चय कुछ नहीं बना। उसका निश्चय किया सविकल्प ज्ञान ने। तो उस सविकल्के ज्ञान को मानते हैं अवस्तु विषयक ज्ञान। तो यहाँ परस्पर विरोध हो रहा है। जो झूठा ज्ञान है उसका प्रमाणपन मानते और वस्तु को विषय करने वाला नहीं मानते। सो जो वस्तु का निर्णय करे उसे तो खोटा मानते और जहाँ निर्णय नहीं है उसे सम्पूर्ण ज्ञान मानते। तो ऐसे झूठ ज्ञान से प्रमाणता का निर्णय करने वाले फिर विपरीत ज्ञान का भी निर्णय कर बैठें। तब तो कोई सही व्यवस्था न बन सकेगी।

अब यहाँ निरंशवादी शंकाकार कहता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में प्रमाणपना बताने वाला सविकल्प ज्ञान ही है। क्योंकि सविकल्प ज्ञान ने निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा जाने गये पदार्थ का ही निर्णय कराया है, किन्तु विपर्यय ज्ञान और संशयज्ञान ये निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रमाणता के सम्पादक नहीं हैं, क्योंकि ये खोटे ज्ञान दृष्ट अर्थ का निर्णय नहीं कराते। ऐसी निरंशवादियों का शंका रूप यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि एक ओर तो यह कहा जा रहा है कि सविकल्प ज्ञान स्वलक्षण को अर्थात् पदार्थ को विषय नहीं करता और दूसरी ओर कहा जा रहा जा रहा है कि सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा देखे गये पदार्थ का निर्णय करता है तो यह तो यों हुआ कि जैसे कोई पुरुष अपने को अज्ञानी मानता हुआ भी स्वयं को सर्वज्ञ कह बैठे। भला जो सविकल्प ज्ञान अर्थात् निर्णायक ज्ञान वास्तविक पदार्थ को न जानेगा तो वह दृष्ट अर्थ का निर्णय करने वाला कैसे हो सकता है ? पदार्थ को विषय करने वाला ही पदार्थ का निर्णय कर सकता है। इस प्रकार निर्णायक ज्ञान सविकल्प ज्ञान वास्तविक पदार्थ का जाननहार है। तो उसी निर्णायक ज्ञान से कुछ अंश प्रतिभासित हुये और कुछ अंश अप्रतिभासित हुये। तो यों वस्तु के स्वभाव का भेद बन जायेगा। तब निरंशवाद का यह कहना ठीक नहीं है कि परमाणु ही अविद्यमान स्थूल आकार को भ्रम से दिखला देता है। यदि ये निरंशवादी पुरुष परमाणुओं के सर्वथा अनिश्चय होने पर भी उनमें भ्रान्ति ज्ञान स्वीकार करने लगे तब तो रेत आदि कुछ भी न हो वहाँ भी जल का भ्रम हो जाना चाहिये। बात तो यह है कि जहां जल नहीं है, मात्र रेत है वहाँ जल का भ्रम होता था, मगर सर्वथा अनिश्चय में भी भ्रम माना जाये तो रेत के बिना भी एकदम जल का भ्रम हो जाना चाहिये। पर ऐसा तो नहीं होता। कोई लम्बी रस्सी पड़ी हो तो सांप का भ्रम हो जाता, पर कुछ भी न हो और भ्रम बनता हो, ऐसा तो नहीं होता। अतः यह बात अवश्य ही मानना चाहिए कि परमाणु भले ही इन्द्रियगम्य नहीं है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो जाना चाहिए किंतु ऐसा हो रहा नहीं, किसी भी अल्पज्ञ को परमाणु का परमाणुपन आदिक रूप से स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता।

परमाणु की अप्रतिभा समानता और स्थूल आकार की भ्रान्ति से ज्ञायकला की शंका का शंकाकार द्वारा समर्थन—अब यहाँ शंकाकार निरंशवादी कह रहे हैं कि बस यही कहना सत्य है कि परमाणुपन आदिक स्वभाव से नहीं प्रतिभासित हो रहे, परमाणु समूह से उस आकार को दिखला देता है। सो हम तो इसी दूसरे पक्ष को मानते हैं क्योंकि हम निरंशवादियों के ग्रन्थ में भी ऐसा ही कथन है कि अर्थ के एक स्वभाव का जब स्वतः ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया है तो उस पदार्थ का कौन सा अन्य भाग देखा नहीं जा चुका अर्थात् पदार्थों में अनेक स्वभाव तो हैं नहीं सो किसी भी पदार्थ का एक बार प्रत्यक्ष कर लेने पर उस पदार्थ का पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। याने कोई भाग न देखा गया नहीं रहता। सिर्फ इतनी ही कसर रहती है कि उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष से निश्चय की उत्पत्ति नहीं होती, सो उन परमाणुओं को अप्रतिभासित कह दिया जाता है। सो निश्चय करने वाला ज्ञान अप्रमाण माना गया है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना गया है। सो इस प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा पदार्थ के सम्पूर्ण गुण देखे जा चुकते हैं, परन्तु कदाचित् भ्रान्ति हो जाने से यदि किसी गुण का निश्चय नहीं किया जा सकता है तो अनुमान की प्रवृत्ति होती है और वहाँ साधन के द्वारा अनिर्णीत गुण का निश्चय कर लिया जाता है। जैसे परमाणु स्वरूप का ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय हो चुका था जब कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष हुआ, वह परमाणु असाधारण है, सूक्ष्म है, स्वलक्षणमात्र है। इस प्रकार सब कुछ जाना जा चुका था तो उस पदार्थ में कोई अलग-अलग अनेक अंश तो हैं नहीं। पदार्थ तो निरंश होते हैं। सो उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष के समय यह न था कि कुछ अंशों को तो जान लिया गया और कुछ स्वभाव को छोड़ दिया गया। वहाँ तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा पदार्थ का सर्वांगीण प्रत्यक्ष हुआ था किंतु अनादिकाल से जीवों को भ्रम संस्कार की वासना लगी है तो वहाँ भ्रान्तिज्ञान बना क्षणिक पदार्थ में चूंकि यह अनेक समय रहता है या पदार्थ स्थूल है ऐसी भ्रान्ति होने लगती है। उस भ्रान्ति को दूर करने का सामर्थ्य निर्विकल्प ज्ञान में नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान का विषय तो यथार्थ दर्शन है। सो उस भ्रान्ति को दूर करने के लिये फिर अनुमान प्रमाण बनता है। जैसे अनुमान बना कि समस्त पदार्थ क्षणिक हैं सत्त्व होने से। तो इस अनुमान द्वारा उसी का ही निर्णय किया गया है कि जो निर्विकल्प ज्ञान में प्रत्यक्ष किया था सो यों परमाणु को जान चुकने पर भी उसके कुछ गुणों का निश्चय नहीं हुआ था। सो परमाणुओं को अप्रतिभासित कह दिया जाता है। सो जो अप्रतिभासित होने लगे उन्हीं के निश्चय के लिये विकल्पज्ञान जगता है। सो उसमें अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि पातव और अर्थित्व इन ४ के कारण निश्चय बनता है। सो परमाणु के सूक्ष्मपने क्षणिकपने के स्वभाव का अभ्यास अधिक नहीं है, ऐसे उसका शीघ्र स्मरण नहीं हो पाता और इसी तरह एक परमाणु में भी यह अज्ञानी प्राणी स्वभाव भेद समझ बैठता है। अतः जो बात कही गई थी कि अप्रतिभासित परमाणु भी अपने में अविद्यमान स्थूल आकार को किसी भ्रम से दिखला देता है अतः अवयवी याने पिण्डभूत पदार्थ कुछ नहीं है। वह तो भ्रममात्र है।

सविकल्प ज्ञान से किये गये निर्णय को अवास्तविक कहने पर प्रमाणता के निर्णय के अभाव का प्रसंग बताते हुये उक्त शंका का समाधान—शंकाकार की उक्त शंका का समाधान यह है कि जब शंकाकार ही स्वयं कह रहा है कि जाने गये परमाणु में कुछ निश्चितपना है कुछ धर्मों में अनिश्चित-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहां तक क्षणिकवादियों ने अवयवी का अर्थात् स्कन्ध का खण्डन किया और जब स्कन्ध कोई चीज ही नहीं है तो संख्यात असंख्यात अनन्त प्रदेश बताने वाला सूत्र निरर्थक है।

परमाणु व स्कन्धों की सिद्धि में उक्त आरेका का समाधान—अब उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि इन शंकाकारों के यहाँ भी तो अवयवी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो पाती है और बहिरङ्ग अन्तरङ्ग जो परमाणु हैं, स्वलक्षणमात्र हैं, वे अतीन्द्रिय हैं, वे बुद्धि के विषयभूत हो नहीं सकते। तो जब परमाणुओं का मिला हुआ अवयवी पदार्थ निरंशवादियों ने माना नहीं और परमाणु सभी स्वलक्षण मात्र हैं वे बुद्धि में आते नहीं, अतीन्द्रिय हैं, तो वहाँ भी तो बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग पदार्थों का ग्रहण नहीं हो सकता। सो इन निरंशवादी बौद्धों के यहाँ भी किसी पदार्थ का ग्रहण न हो पायेगा, इस पर यदि शंकाकार यह कहे कि हम तो परमाणुओं की प्रतिक्षण उत्पत्ति मानते रहते हैं, कोई कोई इकट्ठे हुये परमाणु ही अपने कारणों की विशेषता से इन्द्रियजन्य ज्ञानों से जानने योग्य स्वभाव वाले बन जाते हैं, अर्थात् उनका ग्रहण होना सिद्ध हो जाता है। इस कारण सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं हुआ, किंतु कुछ दृश्य परमाणुओं का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण हुआ है, ऐसी तर्कणा यदि शंकाकार प्रकट करे तो उनका यह मतव्य भी सही नहीं है, क्योंकि कभी भी कहीं भी किसी भी अल्पज्ञ व्यक्ति को परमाणुओं की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं हो रही है, जब कि यह स्कन्ध एक ही अकेला ज्ञान में स्थूल रचना को धारण करने वाला प्रतीत हो रहा है। याने अलग-अलग परमाणुओं के प्रतिबिम्बों को आकारों को शंकाकार के यहाँ ज्ञान नहीं धारण करता और स्व को जानने वाला ज्ञान भी अनाकार है, पर सविकल्प ज्ञान के द्वारा स्थूल आकार वाला एक अवयवी स्पष्ट जान लिया जाता है।

स्कन्ध के स्थूल आकार के दर्शन को भ्रान्त कहने की शंका व उसका समाधान—यहाँ यदि शंकाकार यह कहे कि परमाणु तो चैतन्य आत्मा में विद्यमान नहीं हो रहे फिर भी भ्रान्ति ज्ञान से अतिस्थूल आकार को ये परमाणु दिखला देते हैं। जैसे कि एक स्थूल दर्शक काँच होता है उसको आँख के आगे लगाने से छोटा पदार्थ भी बहुत बड़ा दिखने लगता है। ऐसे ही ये परमाणु निकटवर्ती होकर जो मोटे रूप में दिखने लगता है सो वह केवल ऐसा समझ लेना भर है। वास्तव में अवयवी, स्थूल पदार्थ कोई नहीं होता, ऐसा तर्क करने वाले शंकाकार से यह पूछा जा रहा है कि वह परमाणु किसी न किसी प्रकार प्रतिभासित हो जाये तब स्थूल आकार को दिखलाता है या किसी भी प्रकार प्रतिभासित नहीं होता तो भी वे अविद्यमान स्थूल आकार को चेतन आत्मा में दिखला देगें। इन दो पक्षों में कौन सा पक्ष स्वीकार है ? दूसरे पक्ष की बात तो स्पष्ट है कि यदि परमाणु किसी भी प्रकार प्रतिभासित नहीं हो रहा तो वे स्थूल आकार को कैसे ग्रहण करा देगें ? क्योंकि कुछ भी प्रतिभासित न हो और दिखला दें, ऐसा माना जाये तो जहाँ कुछ नहीं है वहाँ पर तो कुछ प्रतिभास नहीं हो रहा, फिर तो उनके सभी तरह के स्कंध दिख जाने चाहिए। अब यदि पहले पक्ष के अनुसार शंकाकार यह कहे कि किसी न किसी प्रकार परमाणु प्रतिभासित हो जाये, तो वह अपने आप स्थूल आकार दिखला देता है। जैसे कि सत्त्व वस्तुत्व आदिक से तो परमाणुओं का ज्ञान हुआ है तो वे स्थूल आकार को दिखला देगें। तो इस शंका का समाधान यह है कि जब यह शंकाकार परमाणुओं को सर्वांगीण प्रतिभासित कर चुका है तो परमाणु रूप से सूक्ष्म रूप से, क्षणिक रूप से भी उन परमाणुओं का प्रतिभास

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस स्कन्ध को बनाने वाले अवयवों के ग्रहणपूर्वक होता है या उन अवयवों को ग्रहण न करके शीघ्र ही अवयवी का ग्रहण हो जाता है ? यहाँ ऐसे दो पक्ष रखे गये हैं कि जिन परमाणुओं का बन्धन होकर स्कन्ध बना है तो स्कन्ध का ग्रहण जो हो रहा है वह उन परमाणुओं को जानकर हो रहा है या परमाणुओं को जाने बिना स्कन्ध का ज्ञान हो रहा है। यदि यह कहा जाये कि उन परमाणुओं का ग्रहण करने पर उस स्कन्ध का ज्ञान हो रहा है तो वे परमाणु तो अतीन्द्रिय हैं, एक एक परमाणु प्रत्येक अतीन्द्रिय है। तो अतीन्द्रिय चाहे अनन्त भी मिल जायें तो भी वे इन्द्रिय ग्राह्य कैसे हो सकेंगे ? सो जब परमाणु अतीन्द्रिय हैं और उनका ग्रहण हो ही नहीं सकता तो स्कन्ध का ग्रहण कैसे हो सकता है ? और जब स्कन्ध का ग्रहण न बने तो अवयवी याने पिण्ड स्कन्ध की सिद्धि भी नहीं हो सकती। तो अवयवी जो परमाणु हैं उनका ग्रहण तो हुआ नहीं और अवयवी कुछ होता नहीं तो इसके मायने यह हुआ कि कुछ भी नहीं है जगत में। न परमाणु हैं और न स्कन्ध। अब यदि कोई कहे कि उन परमाणुओं का ग्रहण हुये बिना पिण्ड का अवयवी का ग्रहण हो जाता है तब यहाँ यह दोष आता है कि जब परमाणुओं का ग्रहण हुये बिना अवयवी स्कन्ध का ग्रहण हो गया तो जिस चाहे जगह रीती जगह में जहाँ कुछ नहीं है वहां भी स्कन्ध का ग्रहण हो जाना चाहिये क्योंकि अब तो अवयवों के ज्ञान बिना भी अवयवी का ज्ञान मान लिया। तो रीती जगह में भी अवयवों के ज्ञान की आवश्यकता तो न रही, तो यहां भी अवयवो का बोध हो जाना चाहिये।

आरेका में निरंशवादियों द्वारा स्कन्ध के निराकरण का प्रयास—अवयवी को न मानने वाले एकान्तवादी ही कह रहे हैं कि यदि कोई यहाँ यह तर्क करे कि कुछ थोड़े से अवयवों का ग्रहण पहले हो जाता है तत्पूर्वक स्कन्धों का ग्रहण हुआ करता है तो इस पर यह आपत्ति आती है कि थोड़े अवयवों का ग्रहण करने से स्कन्धों का ग्रहण मानने पर सभी अवयवों या अवयवियों का ग्रहण नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि उस स्कन्ध के अवयव रूप हो रहे अनन्त परमाणुओं को जैनादिक के यहां व्यवस्था बनायी गई है इस कारण वास्तव में अवयवभूत अनन्त परमाणुओं का ग्रहण करना असम्भव है। तो कुछ अवयवों का ग्रहण करके ही तो स्कन्धों का ज्ञान माना है सो वास्तविक रूप से तो स्कन्ध की सिद्धि न हो सकी, क्योंकि सभी परमाणुओं का ग्रहण होने पर स्कन्ध का ज्ञान मानना सच्चा होता। हाँ अनादि काल से लोगों को अविद्या लगी है, भ्रम बना है इसलिये अत्यन्त निकट हो रहे उन परमाणुओं को एक स्कन्ध रूप से मान लेते हैं और वस्तुत: वे सब परमाणु एक दूसरे से बन्धन रूप सम्बन्धित नहीं हैं, इस कारण वह सब कोरा भ्रम है। जैसे कि सिर पर रहने वाले केश या नीचे पड़े केशों का झुंड वे एक दूसरे केश से बंधे हुये तो नहीं हैं, सर्व स्वतन्त्र रह रहे हैं, पर अति निकट रह रहे हैं, इस कारण उनमें भी एक पिण्ड का भ्रम हो जाता है। या जैसे बालू के कण का ढेर पड़ा हुआ है तो वहाँ भी बालूका प्रत्येक कण जुदा जुदा ठहर रहा है और एक कण का दूसरे कण के साथ बन्धन भी नहीं है, किन्तु वे सब अतिनिकट होकर रह रहे हैं, इस कारण वहाँ भी पिण्ड जैसा भ्रम हो जाता है। ऐसे ही परमाणु तो हैं सब न्यारे न्यारे। उनका परस्पर एक दूसरे से बन्धन नहीं है मगर वे समीपवर्ती हो जायें तो भ्रमवश लोग उन्हें स्कन्ध कह देते हैं। वास्तव में तो सूक्ष्म असाधारण क्षणिक परमाणु ही पदार्थ हैं और जो कुछ लोगों को प्रतीत हो रहा है कि अनेक समय तक ठहर रहा यह स्कन्ध, यह स्थूल है, अवयवी है, सो वह वास्तविक पदार्थ नहीं है। इस प्रकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्रव्यों के प्रदेशों का परिमाण बताया जा चुका है। अब मूर्त पुद्गलों के प्रदेशों का परिमाण कितना है, ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार सूत्र कहते हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ ५-१० ॥

पुद्गल स्कन्धों के प्रदेशों का परिमाण पुद्गलों के संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। यहाँ पुद्गलों से मतलब स्कन्धों का है। कोई स्कन्ध संख्यात प्रदेशी है, कोई असंख्यात प्रदेशी है, कोई स्कंध अनन्त प्रदेशी भी हैं। इस सूत्र मेंप्रदेशाः शब्द की अनुवृत्ति दो तीन सूत्रों पहले से आ रही है, और च शब्द के देने से 'अनन्त' प्रदेश ग्रहण किए गये हैं, इससे पहले सूत्र था "आकाश-स्यानन्ताः" उस प्रकृत सूत्र में च शब्द कहकर अनन्त शब्द ग्रहण किया है। जैसे कि उस सूत्र का अर्थ होता था कि आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं, और इस प्रकृत सूत्र का अर्थ होता है कि पुद्गलों के प्रदेश संख्यात असंख्यात व और भी होते हैं अर्थात् अनन्त भी होते हैं। और ८वें सूत्र में प्रदेशाः शब्द आया उससे प्रदेशाः शब्द की अनुवृत्ति की गई है। अब यहाँ बतलाते हैं कि पुद्गलों के संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश कैसे हो जाते हैं। इसकी सिद्धि एक अनुमान द्वारा की जानी चाहिये। अनुमान भी पूर्ण प्रमाण होता है। जैसे कि लोक में अनुमान को अन्दाज अथवा संशय के रूप में लेते हैं कि हाँ हो सकता है, ऐसा यह अनुमान का अर्थ नहीं है। अनुमान प्रमाण पूर्ण प्रमाण है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्षता में पूर्ण है और वह सही बात को बतलाता है ऐसे ही अनुमान प्रमाण परार्थ अनुमान में परोक्ष रूप पूर्ण प्रमाण है और वह सही बात को बतलाता है। यहाँ अनुमान किया जा रहा है कि पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात असंख्यात और अनन्त हो सकते हैं क्योंकि पुद्गलों के अनेक प्रकार के स्कन्धों की भली भाँति सिद्धि है। स्कन्ध बना करते हैं पुदगल परमाणुओं से। तो जितने परमाणुओं से जो स्कन्ध बनते हैं उस स्कन्ध में उतने परमाणु अवगाही कहे जाते हैं। पुद्गल स्कन्धों में आकाश प्रदेश की भाँति लम्बाई चौड़ाई के अनुसार प्रदेश नहीं माने गये। अर्थात् स्कन्ध अखण्ड-द्रव्य नहीं है और उसके अखण्ड के ये प्रदेश बताये गये हों ऐसा नहीं है, किन्तु स्कन्धों में संख्यात असंख्यात अनन्त परमाणु हैं और प्रत्येक परमाणु एक प्रदेशी होता है। तो पुद्गलों में अर्थात् स्कन्धों में परमाणुओं की गिनती के अनुसार प्रदेशों की संख्या नियत की गई है। यहाँ यह बात और जानना कि आकाश के असंख्यात प्रदेशों में अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध ठहर सकते हैं। आकाश का क्षेत्र भले ही थोड़ा हो पर वहां अधिकाधिक परमाणुओं की संख्या बराबर है। सो थोड़े क्षेत्र में ये संख्यात प्रदेशी असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध ठहर रहे हैं। कोई भी स्कन्ध आकाश के अनन्त प्रदेशों में ठहर ही नहीं सकता। उतने बड़े स्कन्ध होते ही नहीं हैं, और लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशों में भी अनन्त प्रदेशी स्कन्ध नहीं है, भले ही एक महास्कन्ध माना है तो वह स्कन्धों के समूह का नाम महास्कन्ध है। महास्कन्ध कोई एक ही पिण्ड होता है और वह लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशों में ठहरता हो ऐसा नहीं है। तो चूंकि संख्यात असंख्यात अनन्त परमाणु वाले स्कन्धों की भली भाँति सिद्धि प्रत्यक्ष से भी देखी जा रही है इस कारण सूत्र में जो प्रदेशों का परिमाण बताया है वह युक्ति संगत है।

अवयव और अवयवी के अभाव की आरेका—अब यहाँ जो अवयवी को नहीं मानते ऐसे क्षणिकवादी शंका करते हैं कि स्कन्ध तो भ्रम है, वास्तविक चीज नहीं है। यदि इसे कोई वास्तविक माने कि अनेक परमाणुओं का मिलकर स्कन्ध बना है तो यह बताए कोई कि स्कन्ध का ग्रहण क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पड़ी हुई है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आकाश द्रव्य एक है और वह अनन्त प्रदेशी है। वही प्रदेश में कुछ अन्य पदार्थ रहे और लोक से बाहर के प्रदेशों में कोई भी अन्य पदार्थ नहीं पाया जाता और एक लोक से दूसरे लोक के बीच जो अन्तर मालूम पड़ता है उससे आकाश ही सिद्ध होता है। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि एक चीज में और दूसरी चीज रूप में जो अन्तर है सो आकाश नहीं है वहाँ किन्तु प्रकाश है। अन्धकार है इसका अन्तर पड़ा हुआ है। जैसे इस चौकी से उस चौकी में अलग प्रकाश का अन्तर है। अगर रात्रि है तो अन्धेरे का भी अन्तर है। वहाँ कैसे आकाश सिद्ध करोगे ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि वह प्रकाश न तो कोई अलग तत्त्व है, न उसका कोई अन्तर देखा जाता है। प्रकाशमय परमाणु पुद्गल द्रव्य ही हैं अन्धकार के परमाणु भी पुद्गल हैं। उनका भी अन्तर होगा। अगर अन्तर न हो तो सब एक हो जायेंगे। और जो उसके अन्तर हैं सो ही आकाश के प्रदेश कहलाये।

अनन्त आकाश को अनन्त रूप से ही जानने में सर्वज्ञता—अब यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि कोई यह बतलाये कि समग्र आकाश को किसी ने सर्वज्ञ ने जान पाया या नहीं ? अगर भगवान ने आकाश को जान लिया तो उसका अन्त आ गया और आकाश को यदि न जाना तो वह सर्वज्ञ ही न रहा। तो चूंकि सर्वज्ञ देव के द्वारा समस्त पदार्थ ज्ञात हैं तो इसके मायने है कि उनका अन्त है। इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह कोई व्यक्त नहीं है कि जो जो ज्ञान के द्वारा जान लिया जाये उसका अन्त जरूर होता है। स्वयं शंकाकार ने वेद को अनन्त कहा है और उस वेद का ज्ञाता ब्रह्म या कुछ उपदेश हैं तो लो खुद के वचन के विरूद्ध है। जान गये वेद पर उसका अन्त नहीं मानते या इसमें प्रकृति यह भी ज्ञात है और इसे अनन्त भी मानते फिर दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ-देव ने आकाश को जाना तो है, पर जैसा है वैसा जाना। आकाश अनन्त प्रदेशी है याने जिसका कहीं भी अन्त नहीं है, इस ही रूप को जाना है। अनन्त को अनन्त रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है और अनन्त का सान्त रूप से जानना मिथ्याज्ञान है। सो ज्ञान में आ जाने से पदार्थ अन्त सहित नहीं कह-लाता। पहले सूत्र में बताया था कि धर्मादिक पदार्थों में असंख्यात प्रदेश होते हैं। यहाँ कह रहे हैं कि आकाश के अनन्त प्रदेश होते। तो असंख्यात और अनन्त में अन्तर है, एक न कहलायेंगे। असंख्यात का तो अन्त होता है मगर वह गिनती में नहीं आ सकता कि इतना है, और अनन्त गिनती में भी नहीं आ सकता और उनका अन्त भी नहीं हो सकता। तो आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। मान लो कोई बहुत बड़ा समर्थ आकाश में किसी ओर चलता चला जाये ऐसे वेग से तो क्या उसका अन्त मिल जायेगा ? कल्पना करो कि यदि आकाश का अन्त है तो क्या है सो बतलाओ ? अगर आकाश का अन्त है तो कहेंगे कि कोई ठोस पदार्थ है। तो जहाँ पदार्थ ठोस है वही तो आकाश है और फिर उस ठोस पदार्थ का भी अन्त है तो उसके बाद फिर क्या है ? आकाश है, आकाश को कितना ही निरखते चले जाओ उसका कहीं अन्त हो ही नहीं सकता। ऐसा अपरिमित आकाश अनन्त प्रदेशी है। सर्वज्ञदेव ने यह सब अत्यन्त स्पष्ट जाना है। तीन लोक, तीन काल का स्पष्ट ज्ञेय सर्वज्ञ के ज्ञान में होता है। सर्वज्ञ ने अपनी इच्छा से कुछ नहीं जाना या जैसा कुछ जान डाला वैसा पदार्थ बनना पड़ेगा, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु जो पदार्थ जितना जैसा अवस्थित है उतना वैसा ही पदार्थ सर्वज्ञ द्वारा जाना गया है। तो आकाश के प्रदेश अनन्त हैं और आकाश अविभागी पदार्थ है, इस प्रकार परम विज्ञान के द्वारा जाना गया है। यहाँ तक धर्म, अधर्म एक जीव और आकाश इन चार अमूर्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि वहाँ कोई लोक पहुँचे तो अवगाह कर सकता। पहुँचता नहीं यह बात अलग है, क्योंकि लोक से बाहर धर्म द्रव्य व किसी अधर्मद्रव्य का सद्भाव नहीं है, मगर अवगाहन की योग्यता कहीं नहीं चली गई और इसी कारण वह अर्थ क्रिया करने में समर्थ है। अगुरुलघुत्व गुण की हानि वृद्धि के कारण होने वाली अर्थ क्रिया तो चलती ही रहती है, पर अवगाहन योग्यता का अभाव भी नहीं हो सकता। वह भावात्मक पदार्थ है। तो इस अवधि सहित लोक के बाहर जो भी भावात्मक है वह आकाश के सिवाय अन्य कुछ द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि अन्य द्रव्य मानेंगे तो उसका भी अन्त है। फिर आगे क्या है यह प्रश्न चलता जायेगा। तो लोक से बाहर यदि गुण ही माना जाये, द्रव्य कुछ न माने तो वह गुण किसके आश्रय है जिसके आश्रय हो वह वह मानना ही पड़ेगा। सो जो माने कि बाहर द्रव्य कुछ है ही नहीं तो गुण भी नहीं है। इसी तरह कर्म सामान्य विशेष कुछ भी न माना जा सकेगा ? आकाश द्रव्य ही सीधा है और फिर आकाश के नाते सामान्य विशेष प्रदेश से उसके ये सब चल सकते हैं। परिणमन भी चलेगा मगर द्रव्य नहीं है कुछ और गुण कर्म आदिक हैं वहां यह बात बिल्कुल संगत नहीं है। तो जब वैशेषिक सम्मत गुण कर्म आदिक नहीं हो सकते लोक से बाहर तो वहां यह बात सिद्ध हुई कि लोक से बाहर आकाश है।

अनन्त लोक धातुओं के होने पर आकाश की अनावश्यकता—अब शंकाकार कहता है कि लौकिक धातुयें अनन्तान्त हैं, संख्यात हैं, असंख्यात हैं, अनन्त हैं। वहाँ आकाश ही है, यह बात कैसे कहते हो ? सब चीजें हैं और अन्त तक हैं। जैसे चलते जा रहे हैं तो वहां यह स्थान प्रमाण साथ है, क्योंकि अनन्त लोक धातु हैं। इनकी सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं। जो प्रमाण, प्रमाण से दूर हों उनका निश्चय करना सम्भव नहीं है, यदि प्रमाण के बाद सिद्ध हुये बिना अपने मन से किसी भी पदार्थ का सद्भाव मान लिया जाए तो फिर चाहे जो कुछ कह दो उसी में ही प्रमाण मानना पड़ेगा। तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से लोकाकाश की सिद्धि नहीं है। पंच द्रव्यों का समुदाय या कहो ६ द्रव्यों का समुदाय बस यही लोक है और इसकी मर्यादा है। इससे बाहर कोई लोक नहीं है और कहना कि कुछ भी नहीं है ऐसा ही मान लो, सो ऐसा तुच्छाभाव भी नहीं है, किन्तु आकाश द्रव्य है।

अनगिनत लोक धातुओं के होने पर भी अन्तराल से आकाश पदार्थ की सिद्धि—अब एक बात का विचार करो कि जिन्होंने अनगिनत लोक माना है और निषेध करते हैं कि आकाश सर्वव्यापी कहीं नहीं है। पदार्थ पड़े हैं, लोक पड़े हैं वे यह बतावें कि मान लो हजारों, लाखों लोक हों तो उनमें एक लोक का दूसरे लोक के बीच कुछ अन्तराल पड़ा है या नहीं ? है, क्योंकि यदि अन्तर रहित है तो उनके मध्य में पड़े हुये अन्तराल की प्रतीति न होनी चाहिये। जैसे इस चौकी से दूसरी चौकी के बीच में अन्तर पड़ा है तो यहाँ भी अन्तर मालूम हो रहा। और फिर यदि वे सारे लोक एक दूसरे से अन्तर रहित हो जायें तो फिर एक ही लोक रह गया, फिर तुम हजारों लोक कैसे कहते ? मान लो किसी जगह १२ केले रखे हैं तो एक केले के बाद दूसरे केले के बीच में कुछ अन्तर है ना ? चाहे मामूली अन्तर हो चाहे अधिक। यदि अन्तर बिल्कुल न हो तो वे १२ केले न कहलायेंगे। वे तो एक ही कहलायेंगे। ऐसे ही कितने ही लोक मान लिए जायें तो भी एक लोक से दूसरे लोक के बीच में कुछ अन्तर है ना, नहीं तो वे अनेक न कहलायेंगे, एक ही लोक कहलायेगा, क्योंकि जब अन्तर रंच भी नहीं है तो एक में सबका प्रवेश हो गया, और यदि एक लोक से दूसरे लोक के बीच में एकदेश रूप से अन्तर माने तो सिद्ध हो गया कि आकाश अन्त सहित है। आकाश के उतने अंशों में कोई चीज नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नाओं से आकाश को अंशसहित समझियेगा। आकाश अंशसहित है, अन्यथा पक्षी मेढ़ा आदिक का कर्मजन्य संयोग विभाग नहीं बन सकता। अर्थात् कोई एक पक्षी किसी वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर बैठ गया तो जिस वृक्ष से हटा उन आकाश प्रदेशों से वियोग हुआ और जिस वृक्ष पर बैठा वहां के आकाश प्रदेशों से संयोग हुआ। तो आकाश के प्रदेश अनेक हैं, और आकाश अंश सहित है, यह माने बिना संयोग वियोग नहीं बन सकता। अथवा दो बकरे दूर-दूर खड़े हैं। उन दोनों को क्रोध आया तो एकदम एक दूसरे से भिड़ने लगते हैं, लड़ने लगते हैं, कुछ देर लड़कर फिर हटकर वैसे ही पीछे लौट जाते हैं, तो दो मेढ़ों में जो कर्म हुआ, क्रिया हुई संयोग के लिए तो वह क्रिया यह सिद्ध करती है कि आकाश के अंश हैं, और आकाश के अन्य अंशों में वे दोनों ठहरे थे। अब क्रिया करके उन अंशों को बदलकर अन्य अशों में पहुँच गए, फिर वहाँ से भी हटकर अन्य आकाश के प्रदेशों पर पहुँच गए तो यदि आकाश में अंश न होते, केवल एक ही निरंश आकाश होता तो यह एक की क्रिया से संयोग वियोग होना न बनता और न दोनों की क्रिया से सँयोग वियोग होना बनता। एक बात यह भी देखिये कि यदि आकाश में प्रदेश न होते तो कोई भी क्रिया न बनती। क्रिया का अर्थ यह है कि एक देश से अन्य देश में पहुँच जाने का जो उपाय है उसका नाम क्रिया है। जब प्रदेश ही नहीं मानते कोई तो एक देश और अन्य देश ये घटित ही नहीं हो सकते और इसी कारण यह गाँव पहले हैं वह गाँव, बाद में है या इस पर्वत से दूसरा पर्वत बहुत अलग है, यह कोई भी व्यवहार न बन सकता था। तो भले प्रकार से विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि आकाश आदिक अंश सहित हैं।

आकाश के अनन्त प्रदेशों का परिचयन—अब प्रश्न होता है कि आकाश के अनन्त प्रदेश हैं यह किस तरह सिद्ध होता है? प्रदेश तो कहीं संख्यात भी होते कहीं असंख्यात भी होते, पर यहाँ आकाश के अनन्त प्रदेश कह रहे हैं यह कैसे सिद्ध हो सकेगा? तो इसके समाधान में कहते हैं कि सब ओर से आकाश के प्रदेश अनन्तानन्त होते हैं, क्योंकि तीन लोक से बाहर कोई नियत प्रान्त नहीं है, अर्थात् लोक से बाहर कुछ पदार्थ नहीं। जो अनन्त प्रदेशी नहीं होता उसका तीनों लोकों से बाहर सब ओर प्रान्त का अभाव नहीं पाया जाता। जैसे परमाणु घटपट आदिक ये सब पदार्थ नियत स्थान में ही रहते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक की सीमा है, आगे कुछ पदार्थ पाया नहीं जाता, फिर इसके मायने यह ही हुआ कि आकाश पाया जाता। यदि आगे आकाश न पाकर और कुछ है तो उसका नाम बताओ क्या है? अगर कोई द्रव्य है तो उसका भी आखिर है, जो पदार्थ हैं द्रव्य रूप परिमित उनका अन्त होता है। तो उन द्रव्यों के बाद भी कुछ है, वह आकाश है अन्यथा बताओ क्या हैं। कोई कहे कि और कोई पदार्थ है तो उनका भी अन्त है। आखिर यह मानना ही पड़ेगा कि लोक के बाहर केवल आकाश ही आकाश है। कल्पना में यह लाओ कि चाहे कितने ही लोक हों—अर्द्धलोक, मध्यलोक अधोलोक या अन्य लोगों के द्वारा माने गये तीन लोक, १४ लोक हैं वे मान लिये जायें, हजारों, लाखों भी मान लिये जायें तो भी इनकी अवधि जरूर मानी जायेगी। ये मूर्तिक पिण्डभूत पदार्थ हैं ये अवधि सहित हैं। तो जब अवधि सहित हैं तो उन अवधि सहित पदार्थों का जो समूह है वह हो गया लोक, तो उससे बाहर क्या है? अगर लोक है तो उसका भी अन्त है, उसके बाहर क्या है? तो मानना ही पड़ेगा कि लोक के बाहर कोई भावात्मक अनन्त प्रदेशी पदार्थ है।

लोकबहिर्गत आकाश प्रदेशों का अखण्डाकाश स्वरूपता—लोक के बाहर मात्र अभाव है, इतने से काम न चलेगा, क्योंकि लोक के बाहर जो कुछ भी भावात्मक पदार्थ हैं उनमें यह योग्यता है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जैसे चौकी चटाई आदिक स्कन्ध आकाश के एक देश में संयुक्त हैं इसी प्रकार परमाणु भी आकाश के एक हिस्से में संयुक्त है, इससे जाना जाता है कि आकाश अंश सहित है। तो परमाणु का समस्त आकाश के साथ संयोग मानने पर दो दोष आते हैं, या तो समग्र आकाश परमाणुमात्र बराबर हो जायेगा या आकाश असंख्यात हो जायेंगे। जितने जितने एक प्रदेश हैं अर्थात् परमाणु के द्वारा रोके गये क्षेत्र हैं उतने ही उतने आकाश मानने पड़ेंगे। अतः यह ही स्वरूप है कि आकाश है तो एक अखण्ड द्रव्य किन्तु वह है अनन्त प्रदेशी। एक अखण्ड द्रव्य का परिचय यह है कि एक परिणमन उस पूरे द्रव्य में होता है। आकाश में जो भी परिणमन होते, होते सूक्ष्म अगुरुलघुत्व गुण के हानि वृद्धि रूप से, पर जो भी परिणमन है वह समग्र आकाश का परिणमन है। जैसे यहाँ देह में एक अंगुली में कुछ परिणमन हो तो पूरे देह में नहीं होता। अंगुली सड़ गई और और सारा देह नहीं सड़ा या चौकी का एक हिस्सा जल गया तो सारी चौकी भस्म नहीं हुई, इससे यह जाना जाता हैं कि देह चौकी आदिक एक पदार्थ नहीं हैं, यह अनेक पदार्थों का संयोग है, किन्तु आकाश या अन्य अखण्ड द्रव्य में ऐसा न हो सकेगा कि कोई परिणमन उसके एक हिस्से में हो और बाकी हिस्से में न हो, यह है एक द्रव्य के समझने की कुञ्जी। तो इस तरह यहाँ आकाश एक द्रव्य है, साथ ही वह अंश सहित है।

आकाश को बहुप्रदेशी माने बिना संयोग विभाग क्रिया सभी के अभाव का प्रसंग—अब यहाँ वैशेषिक शंकाकार शंका करता है कि हम न तो परमाणु के साथ आकाश को एक देश से संयुक्त मानते और न सर्वरूप से संयुक्त मानते किन्तु है उसका संयोग घट आदिक के साथ। जैसे कि कोई अवयवी अवयव के साथ संयुक्त है अथवा सामान्य अपने आश्रयभूत पदार्थ के साथ संयुक्त है इसी तरह आकाश भी घटपट आदिक के साथ संयुक्त है। इसके समाधान में कहते हैं कि यह बात तो ज्यों की त्यों रही। उदाहरण में भी यही बात समस्या की बनी रहती है कि अवयवी का अवयवों से जो संयोग मानते हो तो अवयवी को मान रहे निरंश और अवयवों के साथ मान रहे सम्बन्ध, तो प्रथम तो यह ही बात गलत है और फिर अवयव रहे भिन्न, अवयवी रहा भिन्न, मायने कोई एक पदार्थ—वह तो रहा जुदा और उसका हिस्सा रहे जुदा तो जो एकान्त से भिन्न है उसमें सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ पर भी ये ही विकल्प उठेंगे कि एकदेश के साथ अवयवों का संयोग हुआ है या समग्र अवयवी के साथ हुआ है? अगर अवयवी के एकदेश में संयोग हुआ है तो वह अंश सहित सिद्ध हो गया और यदि सर्वदेश मे सम्बन्ध है तो पहले दिये गये दोष आते हैं।

अखण्ड बहुप्रदेशी द्रव्य के प्रदेशों का कथंचित् तादात्म्य मानने में विवाद की समाप्ति—उक्त दोषों के भय से यदि शंकाकार कहे कि हम तो कथंचित् तादात्म्य मानते हैं और उसी को ही सम्बन्ध स्वीकार करते हैं तो यह तो स्याद्वाद का सिद्धान्त हुआ। सामान्य और सामान्यवान में कथंचित् तादात्म्य माना गया है। तादात्म्य ही है मगर जब संज्ञा दो कर दी, सामान्य और सामान्यवान, तो संज्ञा आदिक की दृष्टि से कथंचित् भेद बना और इसीलिए कथंचित् तादात्म्य कहा जा रहा। इसी प्रकार अवयव और अवयवी का कथंचित् तादात्म्य माना गया है। जैसे आकाश एक द्रव्य है और उसके अवयव मायने प्रदेश अनन्त हैं तो उन अनन्त प्रदेशों का आकाश से तादात्म्य सम्बन्ध है और इस तरह जब कि आकाश सांश बन गया तो आकाश के किसी हिस्से में परमाणु स्कन्धों का संयोग बन जाता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आकाश अंश सहित है। अब अन्य घट-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकेगा ? तो यह नहीं कहा जा सकता कि आकाश व्यापक है और निरंश है। आकाश व्यापक तो है मगर एक प्रदेशी नहीं है। वह अनन्त प्रदेशी है। ✓

आकाश प्रदेशों के अकल्पित मुख्यत्व की सिद्धि—शंकाकार कहता है कि आकाश के प्रदेश मुख्य नहीं हैं क्योंकि वे स्वयं स्वतः प्रतिपाद्य नहीं हो सकते परमाणु की तरह। जैसे परमाणु स्वयं समझा नहीं जा सकता ऐसे ही आकाश के प्रदश भी स्वयं समझे नहीं जा सकते। प्रदेश तो मुख्य घट पट आदिक पदार्थ जो सामने भौतिक नजर आ रहे हैं उनमें ही मुख्य प्रदेश कहे जा सकते हैं। शंका के समाधान में कहते हैं कि यदि आकाश के प्रदेश मुख्य नहीं हैं, तो फिर परमाणुओं का समूह रूप स्कन्ध भी, उसके अवयव भी फिर मुख्य न होना चाहिये। तो यह नहीं कहा जा सकता कि जो प्रदेश स्वतः समझ में न आये वे मुख्य नहीं कहलाते। यदि यह कहा जाए कि परमाणु का एक प्रदेश अत्यन्त परोक्ष है, वह हम लोगों को स्वतः समझ में नहीं आता तो यह ही उत्तर तो आकाश प्रदेश में है। आकाश प्रदेश भी अत्यन्त परोक्ष है। वह भी हमको स्वतः समझ में नहीं आ सकता। सर्वज्ञ देव को जो अतीन्द्रिय पदार्थों की दृष्टि है उनको तो जैसे परमाणु में प्रदेश हैं ये स्वतः ज्ञान में आ रहा है ऐसे ही आकाश आदिक के प्रदेश भी स्वतः ज्ञान में आ रहे हैं। तो इससे ही सिद्ध हुआ कि आकाश के प्रदेश मुख्य हैं और वे सब अंश हैं। जरा शंकाकार यह बतायें कि जैसे उन्होंने माना है कि कर्णेन्द्रिय आकाश है याने कर्णबिल में अदृष्ट जो सद्भूत आकाश के प्रदेश हैं उनको श्रोत्र माना है, तो वे यह बतलायें कि उस कर्णेन्द्रिय में सारा आकाश है या नहीं ? यदि कहो कि सारा आकाश है तो सारी दुनिया के शब्द सुनाई देना चाहिए, क्योंकि उन्होंने शब्द को आकाश का गुण माना है, और यदि कहो कि सारा आकाश नहीं है तो प्रदेश सिद्ध हो ही गया। प्रतिनियत प्रदेश है। थोड़े प्रदेश हैं, और भी देखिये कि एक परमाणु सारे आकाश से संयुक्त है या नहीं। अगर कहो कि सारे आकाश से संयुक्त है तब तो आकाश परमाणुमात्र रहे या परमाणु आकाश बराबर हो जाये। सो यह कुछ भी नहीं है। यदि कहो कि सारे आकाश से संयुक्त नहीं है तो उसका यह ही तो अर्थ हुआ कि वह भी प्रदेशों से संयुक्त है। तो यों प्रदेश मुख्य ही तो कहलाया। स्पष्ट ही तो देखा जाता कि कुछ प्रदेशों से हटकर पीछे अन्य प्रदेशों में पहुँच गया तो सारा आकाश का संयोग तो नहीं कहलाया। जिन प्रदेशों का संयोग हुआ वे उतने ही प्रदेश हैं। तो इस प्रकार आकाश के प्रदेश बहुत हैं, और इस दृष्टि से आकाश सांश है। अनुमान से भी सिद्ध होता है कि आकाश कथञ्चित् अंशों से सहित है, क्योंकि अनेक परमाणु आकाश के एक-एक प्रदेश करके संयुक्त होते रहते हैं। घट कहीं है, यह कहीं है, वहाँ यह सिद्ध होता है कि आकाश सांश है और कुछ अवयवों में वे पदार्थ रखे हैं। यदि आकाश को सांश न माने तो अनेक आकाश मानने पड़ेंगे। घट किसी अन्य आकाश में रह रहा, पट किसी अन्य आकाश में रह रहा तो यों आकाश ही आकाश पूरा अनेक अनन्त द्रव्य बन जायेगा। इससे यह मानना ही चाहिये कि आकाश तो द्रव्य है और उसके अनन्त प्रदेश हुआ करते हैं। उन अनन्त प्रदेशों में जितनी जगह में सारा लोक पड़ा हुआ है वह तो असंख्यात प्रदेश है और उससे अतिरिक्त लोक के बाहर जितना भी आकाश पड़ा है वह अनन्त प्रदेशी है। इस प्रकार सूत्र में जो कहा जा रहा है कि आकाश के अनन्त प्रदेश हैं वह पूर्णतया सही कथन है।

आकाश तत्त्व विषयक सिद्धान्त—सिद्धान्त यह है कि आकाश व्यापक एक अखण्ड पदार्थ कथञ्चित् अंश सहित होता, क्योंकि परमाणुओं के साथ एक देश से उनका संयोग है स्कन्ध की तरह,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आकाश प्रदेशों को आकाश के सर्वथा भिन्न मानने वालों के प्रदेशों को कर्म आदि भी मानने की असिद्धि—प्रदेशों को सर्वथा भिन्न मानने वाले प्रदेशों को द्रव्य माने तो युक्त नहीं है, प्रदेशों को गुण माने तो युक्त नहीं है। अब यदि शंकाकार उन प्रदेशों को कर्म माने तो यह तो बिल्कुल ही अयुक्त है। इन प्रदेशों में क्रिया कहाँ हो रही ? वे तो नित्य अवस्थित हैं, तो उनकी क्रिया भी नहीं कह सकते हैं। सामान्य भी नहीं कह सकते। कहीं कोई प्रदेश अनुगत नहीं हो रहे। किसी एक पूरे में वही नहीं जा रहा है विशेष भी नहीं मान सकते, समवाय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसे उन प्रदेशों में यह प्रदेश यही प्रदेश है, अनुवृत्ति नहीं बनती, ऐसे ही यह इससे जुदा है, यह इससे जुदा है, यह विशेष भी नहीं बनता। ये सब बातें द्रव्य में हुआ करती हैं, और जब यह कुछ नहीं बन रहा तो समवाय की जरूरत क्या रही ? अभाव कहा हो नहीं जा सकता। तो आकाश के प्रदेश आकाश से भिन्न नहीं माने जा सकते हैं, और यह भी नहीं माना जा सकता कि वह कोई अन्य पदार्थ है, क्योंकि शंकाकार वैशेषिक ने पदार्थ ६ ही माने हैं। ७वां कोई भावात्मक पदार्थ नहीं है।

निरंशत्व व व्यापकत्व दोनों की एक द्रव्य में संभवता न होने से व्यापक आकाश के सांशत्व की सिद्धि—अब शंकाकार कहता है कि पदार्थ ६ ही होते, उसके नियम का विरोध नहीं है और वे द्रव्य, गुण, कर्म आदिक भी नहीं हैं प्रदश, सो इसीलिए यह मान लीजिए कि आकाश के प्रदेश मुख्य चीज नहीं हैं, वे कल्पित हैं, उपचरित हैं। इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह कहना बिल्कुल अयुक्त है कि आकाश के प्रदेश मुख्य नहीं हैं, क्योंकि मुख्य कार्य देखा जा रहा है। प्रदेशों का मुख्य कार्य है पदार्थों का अवगाह। सो जब पदार्थ अवगाहित हैं, आकाश में चौकी रखी, तखत रखा, पुस्तक रखी, यों जब इन पदार्थों का अवगाह है तो उन्हें उपचरित पदार्थ कैसे कहा जा सकता ? अगर प्रदेशों को मात्र कल्पित माना जाये तो मुख्य कार्य जो अवगाहन है फिर उसका योग नहीं बन सकता है। कहीं कल्पित अग्नि से रोटी बन सकती है क्या ? नहीं। ऐसे ही कल्पित प्रदेशों में कहीं पदार्थों का अवगाह हो सकता है क्या ? नहीं। इस कारण यह तो न कहना कि आकाश के प्रदेश मुख्य नहीं हैं किन्तु उपचरित हैं। अब शंकाकार कहता है कि आकाश तो निरंश है और निरंश होने पर भी व्यापक है इसलिए पदार्थों का आकाश में अवगाह हो जाया करता है। तो उत्तर इसका यह है कि कोई पदार्थ निरंश हो और फिर व्यापक हो, इन दोनों बातों का विरोध है। शंकाकार पुनः कह रहा है कि यह बात तो प्रमाण सिद्ध है। आकाश व्यापक है, इसका कोई निषेध नहीं कर सकता। और साथ ही वह निरंश भी है। आकाश निरंश है, क्योंकि यह सर्व जगह में व्यापक है। जो निरंश नहीं होता वह सर्वलोक में व्यापक नहीं हो सकता। जैसे घट पट आदिक ये निरंश नहीं हैं, इनके अलग हिस्से हैं। तो ये व्यापक भी नहीं हैं। आकाश सर्व जगह में व्यापक है तो वह निरंश है, ऐसी शंका को पुष्ट करने के लिये शंकाकार कहे तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि देखो परमाणु निरंश है ना। परमाणु के और अंश नहीं होते मगर वह शंकाकार व्यापक कहता है तो जो यह प्रतिज्ञा कर रहे थे कि जो निरंश है सो व्यापक है देखो व्यभिचार, परमाणु तो निरंश है, पर वह व्यापक नहीं है। यदि शंकाकार उस परमाणु को भी मानने लगे याने उसे भी पक्ष बना लिया जाए जिससे कि हेतु में दोष न आये तो यह कहना भी अयुक्त है। परमाणु एक प्रदेशी है। यह परमाणु पूर्ण शुद्ध है और जब अनन्त परमाणुओं का पिण्ड वह सान्त देखा जा रहा है तो उनमें एक परमाणु कैसे व्यापक कहला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह बात न मालूम हो सकेगी, क्योंकि आकाश के प्रदेशों को शंकाकार ने गुण मानने का पक्ष लिया है। तो गुणों में परत्व अपरत्व ये गुण नहीं आ सकते हैं। तो यों प्रदेशों को गुण मानने पर कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। तो यों आकाश के प्रदेशों को आकाश से भिन्न मानने वाले शंकाकर प्रदे ों को गुण भी सिद्ध नहीं कर सकते।

अवयव संयोगपूर्वक अवयवी संयोग होने के कारण आकाश प्रदेशों के साथ पदार्थों का संयोग होने पर अवयवी आकाश में पदार्थों के अवगाह की सिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जो संयोग विभाग आदिक गुण ऊपर चर्चा में लाये हैं वे गुण तो प्रदेशी आकाश में रहते हैं। प्रदेशों में नहीं रहते, फिर यह संयोग विभाग न बन सकेगा, यह दोष कैसे दिया जायेगा ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रदेश तो हैं अवयव और प्रदेशी आकाश है एक द्रव्य। तो अवयव के संयोगपूर्वक अवयवी का संयोग देखा जाता है, तो अवयवों में संयोग होने के मायने अवयवी से ही संयोग हुआ। जैसे हाथ से किसी ने पुस्तक ग्रहण की, तो पुस्तक का संयोग हाथ के अवयव से हुआ, पर इसी के मायने यह हुआ कि पुस्तक का संयोग शरीर से हुआ। तो पुस्तक और हाथ इनका संयोग तो कहलाया अवयव सो चूंकि अवयव अवयवी से पृथक नहीं है इस कारण वह संयोग अवयवी से ही कहलाया। तो ऐसे ही आकाश के प्रदेशों में ये संयोग विभाग आदिक देखे जाते हैं, कहीं समूचे आकाश में नहीं देखे जाते। तो अवयव के संयोगपूर्वक अवयवी का संयोग स्वयं शंकाकार ने माना है तो वह अवयवों का ही संयोग कहलाया यदि प्रदेशी का ही संयोग कहा जाये, अवयवों का संयोग न कहा जाये तो सँयोग बन ही नहीं सकता है।

आकाश से आकाशप्रदेशों को सर्वथा भिन्न मानने पर व उन्हें गुण मानने पर पदार्थों के साथ तीनों ही प्रकार के संयोगों की अनुपपत्ति—संयोग वैशेषिक दर्शन में तीन प्रकार के माने गये हैं। कर्म जन्य संयोग, उभयकर्मजन्य संयोग और संयोगज संयोग। जैसे कोई पक्षी आकर वृक्ष की डाल पर बैठ गया तो यह एकान्यतर कर्मजन्य संयोग हुआ। पक्षी ने कर्म किया, क्रिया की, उड़कर आया पक्षी और इस आकाश प्रदेश पर ठहर गया। तो यहाँ क्रिया एक ही ओर से हुई। प्रदेश तो जहाँ था वहाँ ही है। तो यह कहलाया एक ही ओर से क्रियाजन्य संयोग, किन्तु जो प्रदेशों में संयोग न माने और पूरे प्रदेशी आकाश में संयोग माने उनका यह संयोग बन ही नहीं सकता। दूसरा संयोग माना है उभयकर्मजन्य संयोग। जैसे दो बकरे दूर दूर खड़े हैं और एकदम चले और लड़ने लगे तो उन दो बकरों का जो संयोग हुआ है या उस आकाश में जो दो का संयोग बना है सो दोनों बकरों की क्रिया के बाद बना है। दूर दूर खड़े थे वे बकरे और दोनों ही क्रिया करके आये और यह संयोग बना। तो यह प्रदेशों में ही तो संयोग रहा। अगर प्रदेशों में संयोग न माने और एक प्रदेशी आकाश में ही संयोग माने इस पूरे आकाश को व्यापकर संयोग होता तो प्रदेशी का संयोग कहा जाता। सो जो आकाश के प्रदेशों को आकाश से भिन्न मानते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि पदार्थों का संयोग प्रदेशी में होता है प्रदेश में नहीं। तो यह एकदम प्रत्यक्ष विरोध है। तीसरा संयोग होता है संयोगज संयोग। जैसे हाथ का संयोग चौकी से हुआ तो इसके मायने शरीर से ही संयोग हुआ, यह कहलाया अवयव संयोगपूर्वक अवयवी का संयोग। तो यह तो तब माना जाए जब पहले अवयवों में संयोग समझ लिया जाये। तो जो आकाश के प्रदेशों को आकाश से सर्वथा भिन्न मानते हैं उनका यह संयोग विभाग आदिक नहीं बन सकता।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि दो द्रव्य पदार्थों का संयोग माना जाता है। जो भी पदार्थ आकाश में हैं तो आकाश भी द्रव्य है, पदार्थ भी द्रव्य है, उन दो का संयोग माना गया है। तो एक विस्तृत आकाश के साथ दूसरे पदार्थ का संयोग हो सकता नहीं। ऐसा कोई मूर्तिमान पदार्थ है ही नहीं जो सारे आकाश में पड़ा हुआ हो, और यह देखा जाता है कि जैसे कलश यहाँ रखा है। अब और उठाकर दूसरे प्रदेश में रख देवें तो यह सब देखा ही जा रहा है। तो उन प्रदेशों के साथ संयोग देखा जा रहा है ना। अभी यह घट इस कमरे के आकाश में है, तो यह ही उठाकर दूसरे कमरे में रख दिया तो वह उन प्रदेशों पर आ गया। तो यों प्रदेश पर संयोग हो रहा है, किंतु अब प्रदेश को मान लिया गया गुण, तो गुण में और गुण या द्रव्य का संयोग नहीं हुआ करता। आकाश प्रदेश को गुण मान लिया गुणान्तर का आश्रय फिर गुण में नहीं बन सकता। वैशेषिकों ने संयोग, वियोग, संख्या, परिमाण, द्रव्यत्व, परत्व, अपरत्व इन्हें साधारण गुण माना हैं। और ये सब साधारण गुण आकाश प्रदेश में पाये जाते हैं। लेकिन शंकाकार के इस पक्ष से कि आकाश के प्रदेश गुण हैं तो उन प्रदेशों में फिर ये गुण नहीं बन सकते हैं।

आकाश के प्रदेशों को आकाश से सर्वथा भिन्न और गुणरूप मानने पर प्रदेशों में संयोग विभाग आदि की असिद्धि का संक्षिप्त विवरण —प्रदेशों में संयोग किस तरह हो रहा कि एक कलश यहाँ रखा है। उसे उठाकर दो हाथ दूर रख दिया तो अभी इन प्रदेशों में संयोग था अब उन प्रदेशों में संयोग हो गया तो यह संयोग स्पष्ट दीखता है। पर प्रदेशों को गुण मानने पर फिर संयोग न बन सकेगा। विभाग की भी बात देखिये। कोई दो चीजें इकट्ठी रखी हों या हाथ से कलश पकड़ा हुआ है। बाद में छोड़ दिया तो यह विभाग बन गया। इन विभागों का अर्थ यह ही तो रहा कि घड़ा उन प्रदेशों में रहा अब यह हाथ इन प्रदेशों में आ गया। तो विभाग भी उन प्रदेशों के साथ लग रहा है, लेकिन विभाग गुण अब प्रदेश में बन न सकेगा। क्योंकि शंकाकार ने प्रदेश को गुण मान रखा है। संख्या की भी बात देखो, आकाश का एक प्रदेश, आकाश के दो प्रदेश, संख्या प्रदेश आदिक संख्यायें भी तो हुआ करती हैं। संख्या को वैशेषिकों ने गुण माना है और आकाश के प्रदेशों को यहाँ गुण मानने का पक्ष कर रहे हैं तो कैसे अब प्रदेशों की संख्या बन सकेगी ? संख्या द्रव्य की हुआ करती। जैसे संयोग और विभाग द्रव्यों में हुआ करता है ऐसे ही संख्या भी द्रव्य की होती है। गुणों में संख्या का संयोग नहीं बनता। प्रदेशों में पृथक्त्व भी देखा जाता है। जैसे मानलो दिल्ली अपनी जगह के आकाश प्रदेशों में है तो कानपुर अन्य आकाश प्रदेशों में है। तो प्रदेश पृथक-पृथक हैं ना, लेकिन अब शंकाकार जिस प्रदेश को गुण समझ रहा है तो अब वहाँ पृथक्त्व न पाया जा सकेगा, क्योंकि वैशेषिकों के यहाँ पृथक्त्व एक गुण है और गुण द्रव्य में ही रहते हैं, गुणों में गुण नहीं रहते। उन्होंने स्वयं माना है—निर्गुणा गुणाः और साथ ही यह भी कहते हैं— गुणादिर्निर्गुणः क्रिया याने गुण आदिक कर्म सामान्य समवाय आदिक ये गुण रहित होते हैं और क्रियारहित होते हैं। तो अब प्रदेशों को गुण मानने के बाद इसमें कोई गुण न होना चाहिये और देखा जाता है अगर न हो तो कोई सिद्ध ही नहीं बन सकता। आकाश प्रदेशों में परिमाण भी देखा जाता है। जैसे इस चौकी के आकाश प्रदेशों से तखत का आकाश प्रदेश महान है। परिमाण भी स्पष्ट नजर आ रहा है, पर परिमाण शंकाकार के यहाँ गुण है। और अब प्रदेशों को भी गुण मानने का पक्ष किया है तो प्रदेशों में परिमाण नहीं बन सकता है। परत्व अपरत्व गुण भी प्रदेशों में नहीं बन सकते। जैसे विदित होता है कि अमुक नगर इस नगर से पास है, इस नगर से दूर है। ऐसा जो उनमें परत्व अपरत्व मालूम हो रहा है सो अब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ने की। वे अन्य दार्शनिक उल्टे तो चले। पर पागल न बने क्योंकि उन्होंने एक ही बात कही। जो पर्याय नहीं मानता और केवल द्रव्य ही मानता उसने शुरू से लेकर अन्त तक वही बात कही। मगर यहां द्रव्य को न मानकर अन्वयका निषेध कर पर्याय को ही पूर्ण वस्तु बनाकर बात कहना, कभी पर्याय को न मानकर द्रव्य की ही कल्पना की बात करना, जैसे कभी माँ की स्त्री कहना, स्त्री को माँ कहना। हाँ गौण मुख्य का तो उपदेश है, पर जैन शासन में द्रव्यपर्यायात्मक सत् में एक का 'न' करके दूसरे का 'ही' करने का उपदेश नहीं है। इस जगह आप ऐसा विश्वास करके बैठें कि इस भवन में चारों तरफ उसका आधार है और फिर एक को देखते रहें तो आप आराम से मौज लेंगे। आप की प्रतीति तो है कि चारों तरफ आधार है, पर अन्य का निषेध करके केवल एक को ही मान कर चलने में एक भीतर की शल्य खतम नहीं हो सकती।

आकाश और आकाश के प्रदेशों की चर्चा—यहाँ बात चल रही है कि वैशेषिक लोग ७ पदार्थ मानते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव और इन सबके सबको जैन शासन भी बताता है, मगर के सातों के सातों एक ही पदार्थ हैं। ये ७ पदार्थ नहीं हैं। द्रव्य की ही शक्ति गुण है, द्रव्य की ही परिणति कर्म है, द्रव्य की समानता सामान्य है, द्रव्य की विलक्षणता विशेष है, और भेद है ही नहीं और भेद करके समझाया जा रहा तो ऐसा भेद करने पर भी अभेद समझना। यह संकेत समवाय का है। और विवक्षित द्रव्य अन्य सबके अभावरूप हैं सो यह अभाव बन गया। एक ही चीज ७ रूप से समझी जाती है मगर वैशेषिकदर्शन में पृथक-पृथक रूप से माना उसके आधार पर यहाँ आकाश के प्रदेशों के बारे में चर्चा चल रही है। आकाश में कितने प्रदेश हैं, कितना विस्तार है, यह वर्णन चलेगा।

आकाश से आकाशप्रदेशों को सर्वथा भेद मानने वालों के भिन्न प्रदेश को द्रव्य मानने की असिद्धि—जो दार्शनिक आकाश के प्रदेशों को आकाश से सर्वथा भिन्न मानते हैं वे यह बतायें कि आकाश के प्रदेश जो आकाश द्रव्य से भिन्न हैं वे प्रदेश क्या द्रव्य कहलाते हैं या गुण, कर्म आदिक कहलाते हैं। यदि उन प्रदेशों को द्रव्य माना जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि जितने भी प्रदेश हैं वे सब एक एक आकाश द्रव्य हैं। और यों अनेक आकाश द्रव्य बन जायेंगे। क्योंकि यहाँ भेद करने पर एक एक प्रदेश का आदि अन्त बन गया। जब आदि अन्त बन गया तो प्रत्येक प्रदेश एक-एक आकाश द्रव्य हो गये किंतु शंकाकार ने भी आकाश को एक द्रव्य माना है। अनेक द्रव्यों से मिलकर कोई एक द्रव्य नहीं कहलाता है। तो इन प्रदेशों को द्रव्य तो कह नहीं सकते। द्रव्य तो वह एक आकाश ही है। प्रदेश तो उसका माना गया अवयव है। अवयव दो किस्म से निरखा जाता है —(१) एक तो द्रव्य-रूप से अवयव—जैसे घट, पट आदिक में १-१ परमाणु उसका भाग है। कुछ-कुछ परमाणुओं के छोटे-छोटे स्कन्ध के घट के अवयव हैं तो वे सब स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ हैं। किंतु एक अखण्ड द्रव्य जो बहुत विस्तृत हो उसके स्वक्षेत्र के अवयव माने जाते हैं। लेकिन यहाँ शंकाकार प्रदेशों को आकाश से सर्वथा भिन्न मान रहा है। तो उनके यहाँ यों अनेक आकाश द्रव्य बन बैठेंगे।

आकाश से आकाश प्रदेशों को सर्वथा भेद मानने वालों के यहाँ भिन्न प्रदेश को गुण मानने की असिद्धि—अब शंकाकार यदि यह कहे कि हम उन प्रदेशों को गुण मानते हैं। आकाश एक है और उसके अनन्त प्रदेश हैं अर्थात अनन्त गुण हैं, तो यह कहना बिल्कुल युक्त नहीं है। कारण यह है

कर आये कि वहाँ कलश नहीं है। तो इससे सिद्ध हुआ कि कलश से रहित जो भवन है उस भवन का नाम कलश का अभाव है। जैन शासन में अभाव के विषय में बहुत बड़ा वर्णन है अष्टसहस्री में, मगर आजकल तो जैनों में भी कुछ लोग ऐसे बन गये अज्ञानवश कि उस अभाव की चर्चा तुच्छभाव-रूप में करने लगे जैसा कि अन्य दर्शन में की जाती है। जैसे पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य उत्तर पर्याय का कारण नहीं, क्योंकि उत्तर पर्याय के समय में वह पूर्व पर्याय है ही नहीं। जब है नहीं तो कारण मानें कैसे ? यह प्रश्न उठने लगा जैन सिद्धांत की अनभिज्ञता से। और इसके लिये क्या कहा जाये ? यह कोई निर्णय नहीं है कि बहुत सा धनिक वर्ग असंयम में ही मोक्ष मिलने की कल्पना करके किसी बात को कहने लगे तो वह बात ठीक ही है। जो ठीक है सो ठीक है।

ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में मात्र क्षणवर्ती पर्याय का ही परिचय—एक दृष्टि है जैन सिद्धांत में ऋजुसूत्रनय की। और ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में बड़ी हैरान बुद्धि हो जाती है। कुछ कह नहीं सकते। कुछ व्यवहार ही नहीं चल सकता। जैसे कहीं रुई जल रही है किसी की दुकान में और वह स्याद्वादी नहीं है। वह आजकल का जैसा नये दिमाग का जैन हो या क्षणिक वादी बौद्ध हो तो मुख से यह न कह सकेगा कि रुई जल रही है। उसकी रुई खतम हो जायेगी। क्यों नहीं कह सकता ? इसलिये कि जो रुई है वह जल नहीं रही और जो जल रही वह रुई नहीं। बताओ जो जल रही उसे आप रुई कह सकते क्या ? अरे वह तो आग है, रुई नहीं है, और जो रुई है वह जल नहीं रही। तो लोग कहेंगे कि यह तो झूठ बक रहा रहा। रुई कभो जल नहीं सकती। जो रुई है वह जल नहीं रहो और जल रही वह रुई नहीं। स्याद्वाद का कितना उपकार है। आज उसके विरोध के कारण लोग चंचल बन गये। उनका मार्ग एक नहीं रह सका। वे लक्ष्य में क्या लेवें ? हमको एक भींट दिख रही है सामने की। तो सामने की भींट दिखने से यदि हम ऐसा एकान्त कर बैठें कि दूसरी भींट इस कमरे में है ही नहीं और ऐसा कहने के अनुसार बात हो जाये तब तो फिर छत गिर जायेगी और हम आप सब भी दबकर मर जायेंगे। तो जरा ढंग से सोचो कि इस भवन में चारों तरफ भींट है। खम्भा है, सब कुछ है मगर यह भींट हमें अधिक पसंद आयी, क्योंकि इसका चित्राय अच्छा है। ढंग अच्छा है, इसलिये देख रहे हैं तब तो गुजारा चल जायेगा और अगर यह कहा जाय कि अन्य भींट है ही नहीं और अगर भवन भी हमारी आज्ञा में हो कि जैसा हम कहें वैसा हो जाय तो बस अभी गिर जायगा सब भवन। यह हालत चलेगी।

स्याद्वादशासन के अनभ्यस्त की हालत—वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है इसके विषय में जैसा अन्य दार्शनिकों ने किया कि किसी ने पर्याय को न मानकर द्रव्यको ही मानकर वर्णन किया और किसी ने द्रव्य को न मानकर पर्याय का ही वर्णन किया। ऐसा ही आज के प्रसार में है कि कोई पुस्तकरूप लंबा कथन द्रव्य को न मानकर केवल पर्याय को ही मान करके कहा। जैसे–सारे जीवन रटन लगाना–पर्याय अकारणक है। उसका कोई कारण नहीं है, क्योंकि अन्य चीज है ही नहीं, जिस समय जो पर्याय है उस समय में पूर्व पर्याय है ही नहीं। यह कथन क्षणिकवादियों का है। जिसे अपनी प्रसिद्धि के लिये यह बात जरूरी है वह कुछ विचित्र कहेगा तभी मनोरथ पूरा होगा तो यहां द्रव्यको बिल्कुल नहीं माना, केवल पर्याय को ही पूरा पदार्थ मानकर कथन है। और कहीं वह आत्मतत्त्व अपरिणामी ध्रुव है, जिसमें पर्याय है ही नहीं, पर्याय व्यवहार है और व्यवहार सब झूठा है वहाँ कुछ परिणमन ही नहीं ऐसा एकांत करके कहना तो वहां पर्याय नही माना। सिर्फ द्रव्य माना। यही बात अन्य दार्शनिकों

http://www.jainkosh.org

गई, वह धर्म सामान्य कहलाता है। जैसे चैतन्य ज्ञानस्वरूप आप में भी है, हममें भी है। सब जीवों में है तो ज्ञानस्वरूप सामान्य कहलाता है। मगर यहाँ भी यह बात देखियेगा कि एकांत करने में यह सिद्ध होगा कि जो ज्ञानस्वरूप आपमें है वही ज्ञानस्वरूप हममें है, ऐसा तो नहीं है। आप का ज्ञान-स्वरूप आपमें तन्मय है। आप के प्रदेशों से बाहर नहीं है। हमारा ज्ञानस्वरूप हममें तन्मय है। हमारे प्रदेश से बाहर नहीं है। तो फिर सामान्य का अर्थ क्या है? समाने भवं सामान्यं, समान में होने वाली बात को सामान्य कहते हैं समान कोई एक चीज न हुई, किन्तु बुद्धि में एक बोध जगे कि ऐसा यहाँ भी है, ऐसा यहाँ भी है, यह तो है सामान्य का अर्थ। और वही एक, यह सामान्य का अर्थ नहीं है सामान्य को वैशेषिकों ने अलग पदार्थ माना कि सामान्य एक है, सर्वव्यापी है, उसका सम्बन्ध होता है द्रव्यादिक में। तो जो वैशेषिक वाद में माना गया है वह कुछ तथ्य पर है मगर किस प्रकार है, यह स्याद्वाद समझायेगा। विशेष पदार्थ—कोई बात हमसे आपमें अधिक दिखी तो वहां विशेष आ जाता है। इससे यह चीज विशेष है। गाय से भैंस विलक्षण है। और वह विलक्षणपना, वह विशेषपना वैशेषिकों के यहां एक पदार्थ माना गया है, पर यह विशेष कोई पदार्थ है क्या? सत् है क्या? एक बुद्धि में आया हुआ तथ्य है। यह धर्म इसमें नहीं पाया जाता, इसमें पाया जाता। जब ये बातें वैशेषिकों ने अलग-अलग मान लीं तो अलग-अलग पड़े रहने से तो कुछ बात बनेगी नहीं। कोई बताये कि गुण कहां अलग पड़े हैं, द्रव्य कहां अलग पड़ा है, अनेक दोष आते हैं। उन दोषों को दूर करने के लिये माना समवाय; हैं तो न्यारे-न्यारे, मगर समवाय सम्बन्ध है। इसको जैन शासन ने कहा तादात्म्य सम्बन्ध। तादात्म्य कोई सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध तो वह कहलाता है कि पहले तो अलग-अलग हो और फिर मिल गये हों, ऐसा तो है ही नहीं। हां कथञ्चित तादात्म्य होता है पर्याय के साथ। तो इस तरह ये वैशेषिकों में पदार्थ माने गये हैं और स्याद्वाद में द्रव्य की तारीफ मानी गई है।

स्याद्वादसम्मत अभावधर्म का वैशेषिक दर्शन में भेदभ्रांति से कथन—एक माना है अभाव पदार्थ वैशेषिकदर्शन में। घट नहीं है, घट का अभाव है। जो नहीं है उसका अभाव है। तो ऐसा अगर अभाव पदार्थ वैशेषिकोंने माना तो कुछ गलती की क्या? आपको नहीं जचता क्या कि अभाव है। यह घट का अभाव है यहां हाथी का अभाव है? हां समझ में आता है कि अभाव है मगर वैशेषिकों ने अभाव को एक भिन्न पदार्थ माना। यह अभाव एक वस्तु है। जब कि जैन शासन ने अभाव को अलग पदार्थ नहीं माना किंतु अभाव को अन्य के भावस्वरूप माना है जैसे कि हाथी का अभाव है। मन्दिर में हाथी नहीं है तो हाथी के अभाव का अर्थ क्या हुआ? हाथी से रहित यह मन्दिर। हाथी शून्य इस मन्दिर का नाम हाथी का अभाव है। अभाव किसी अन्य के सद्भावरूप है। जहां अभाव बतला रहे वह वस्तु। जिसका अभाव बतला रहे हैं उससे शून्य वह वस्तु उस अभाव का विषय है। जैसे किसी से कहा कि जरा जाकर देख आना कि इस हाल में चाँदी का कलश रखा था कि नहीं? तो वह जाता है, वहां रखा था नहीं, सो देख करके आता और कहता कि वहां कलश नहीं है। ...तो क्या अच्छी तरह देख आये। ... हां, हाँ अच्छी तरह देख आये। ... बताओ अच्छी तरह क्या देखा? जिसको देखने के बाद यहां आकर कह रहे कि वहां कलश नहीं है। वहां आंख से क्या देखा? फर्स, किवाड़, भींट, रोगन, भवन भवन ही देखकर आया और यहां कहता है कि हम खूब देख

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आकाशद्रव्य का बनता है, बाकी तो सब उतना स्पष्ट मन द्वारा नहीं बन रहा, पर हाँ अनुमान द्वारा बन रहा है। यही तो आकाश है। जिसे लोग पोल कहते हैं, कुछ ध्यान में आया मगर पोल कहने से लोग सोचते ऐसा कि जो कुछ नहीं है यही तो आकाश है किन्तु आकाश एक सत्तात्मक पदार्थ है। सद्भूत है और एक द्रव्य है। अब इस समझ में कुछ बुद्धि चक्कर खा जाती है। जब इसको हम एक सत् स्वरूप कहते हैं और उसमें अगुरुलघुत्व गुण की सद्गुण हानि वृद्धि रूप परिणमन कहते हैं तो कुछ अधिक विचार करने की जरूरत पड़ जाती है। यह आकाश एक पदार्थ है और उसके अनन्त प्रदेश हैं। यहाँ भेद निर्देश करके बताया है, पर सर्वथा भेद न समझना। यदि आकाश जुदा है और प्रदेश बिल्कुल जुदे हैं तो इसके मायने भिन्न भिन्न सत् हो गये। अब भिन्न भिन्न सत् हो गये तो ये प्रदेश क्या कहलाये ?

वैशषिक दर्शन और स्याद्वाद— वैशेषिक दार्शनिकों को समझाया जा रहा है, वे लोग ७ पदार्थ मानते हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४ सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और, (७) अभाव। नाम कुछ अटपट से लग रहे होंगे मगर ये सब जैन दर्शन ने भी माने हैं, किन्तु पदार्थ रूप में नहीं माना। जैन दर्शन ने किस तरह माना कि द्रव्य वह है जो सत् है। चाहे जीव हो, परमाणु हो, कुछ भी हो, वह द्रव्य है। उस द्रव्य में रहने वाला जो स्वभाव है, शक्ति है, स्वरूप है वह गुण है। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द ये गुण हैं, मगर ये गुण अलग पदार्थ नहीं, किन्तु वैशेषिकों ने कहा कि जब कुछ समझ में आ रहा कि ये कुछ एक-एक हैं तो ये अलग-अलग ही हैं, उन्होंने पदार्थ मान लिया, यह अन्तर आया। आत्मा में गुण है और आत्मा में क्रिया भी है, आत्मा में पर्याय भी है, परिणमन भी है तो वह परिणमन और क्रिया वैशेषिकों के यहाँ जुदे पदार्थ हैं। देखो जो अन्य दार्शनिकों ने माना सो एकदम गलत न थे। जो कहा वह एक समझने की बात है, और वहाँ वह बात बनती है, समझ भी आती है, पर स्याद्वाद का सहारा छोड़ने से, वे अत्यन्त अन्धकार में पहुँच गए। जो दार्शनिक मानते हैं उसमें बल न हो, तथ्य न हो, वह बात तो नहीं है, पर तथ्य होकर भी स्याद्वाद के बिना अतथ्य बन गया।

स्याद्वादसम्मत द्रव्य गुण पर्यायों का वैशेषिकदर्शन में भेदभ्रांतिसे कथन—पदार्थ के बारे में जो वैशेषिक सिद्धांत ने कहा है वह सब जैन सिद्धांत में भी कहा है, और उसका घटन इस तरह है—द्रव्य जैसे जीव— इसमें गुण है इसमें सदा रहने वाली शक्ति। ज्ञान दर्शन आदिक उन गुणों को वैशेषिकों ने अलग मान लिया स्याद्वाद में द्रव्य गुणमय कहा। पर्याय क्रिया एक देश से अन्य देश में पहुँचे यह कहलाती है क्रिया। और देशान्तर में तो न जाय, किंतु बदल चलती रहे उसे कहते हैं एक भाववाला परिणमन। भाववाले परिणमन को कुछ को तो गुण में डाला वैशेषिकों ने और क्रिया के परिणमन को एक अलग पदार्थ माना सो यों पर्याय को भी अलग पदार्थ माना। पर जैन सिद्धांत बतलाता है कि जो द्रव्य जिस काल में जिस पर्याय से परिणम रहा है वह पर्याय उस काल में उस द्रव्य में अभेद है।

स्याद्वादसम्मत सामान्य विशेष नित्यतादात्म्य व अनित्य तादात्म्य का वैशेषिकदर्शन में भेद भ्रांतिसे कथन—अब रहे वैशेषिकों के सामान्य, विशेष, समवाय। जैन सिद्धांत ने सामान्य बुद्धिगोचर तथ्य माना है। अलग पड़ा हुआ पदार्थ नहीं है। जो धर्म अनेक में पाया जाय वह सामान्य है। जरा ध्यान से सुनेंगे बात स्पष्ट होगी। आपमें जो बात पाई गई वही हममें पायी गई, वही और में पाई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अमुकचन्द, अमुकलाल जायेंगे और मैं भी, बस इतना बोला तो अर्थ निकल आया कि मैं भी जाऊंगा। तो जो पहले शब्द बोले जाते हैं उस वाक्य से जिन जिन शब्दों की आवश्यकता है अनुवृत्ति कर ली जाती है। तो पहले सूत्र में प्रदेशाः शब्द आया था। उस प्रदेश शब्द की अनुवृत्ति यहाँ की गई। और यही कारण है कि पूर्व सूत्र में असंख्येय प्रदेशाः ऐसा समास न करके अलग अलग शब्द रखे गये हैं। जैसे कि उसी पूर्व सूत्र के कथन में यह बात बतायी गई थी। अनन्त का अर्थ क्या है ? जिसका अन्त नहीं, अवसान नहीं, समाप्ति नहीं उसे अनन्त कहते हैं। आकाश के उतने प्रदेश हैं जो अनन्त हैं। जिस जगह यह अंगुली खड़ी है उस जगह में असंख्यात प्रदेश हैं, अनन्त नहीं, क्योंकि उसका अन्त है। और समूचे आकाश के कितने प्रदेश हैं ? अनन्त। उसका अन्त नहीं। अनन्त भी अनेक प्रकार के होते हैं, और देखिये आकाश प्रदेश का अन्त नहीं है, सो अनन्त है। मगर इस अनन्त से भी बड़ा अनन्त कोई है क्या ? तो केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद, ये आकाश से भी अधिक अनन्त हैं। अन्त दोनों का नहीं है फिर भी कमी बेशी है। केवल ज्ञान में इतने अविभाग प्रतिच्छेद हैं कि ऐसे लोकालोक कितने ही होते तो भी ज्ञान उन्हें जानता।

आकाश के प्रदेशों के कथंचित् भेद का दिग्दर्शन—आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। ऐसा कहने में भेद जच रहा है। जैसे कोई कहता कि यह इसका लड़का है, तो इसमें भेद जचा ना ? वह पुरुष अलग है, लड़का अलग है। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। ऐसा कहने में भेद जचा। वह भेद कथञ्चित् है, सर्वथा नहीं है। प्रदेश और प्रदेशी इन दो बातों को समझने के लिये भेद डाला है। प्रदेशी तो है आकाश और प्रदेश हैं उसके अनन्त। समग्र आकाश पर दृष्टि देने से जो ज्ञेय बना और आकाश के इन असंख्यात प्रदेशों पर दृष्टि देने से जो ज्ञेय बना उसमें अन्तर है या नहीं ? अन्तर है। यह हिस्सा-हिस्सा है, वह पूरा है, पर सर्वथा भेद यों नहीं है कि अनन्त प्रदेश होने पर भी आकाश एक ही द्रव्य है। उसके हिस्से नहीं हैं, टुकड़े नहीं हैं। भाग जच रहे हैं फिर भी आकाश के टुकड़े नहीं हैं। तत्त्व ऐसा ही है और भले प्रकार समझने से ज्ञात भी होगा कि बात सही यही है। आकाश एक है, उसके अनन्त प्रदेश हैं, फिर भी हिस्से नहीं हैं। तो आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, ऐसा कहने में भेद का निर्देश हुआ सो जैसे आकाश के प्रदेश सर्वथा भिन्न नहीं हैं ऐसे ही आकाश और प्रदेश सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। यह भी एक अनोखा तत्त्व देखिये—अगर आकाश और उसके प्रदेश अभिन्न हो जायें, एक ही चीज सर्वथा हो जाए तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रदेश और प्रदेशी दोनों एक कहलायें। चाहे तो प्रदेश कहो, चाहे आकाश कहो, सर्वथा अभेद हो गया। जब सर्वथा अभेद हो गया तो मानो एक प्रदेश आकाश के बराबर कहो या सारा आकाश एक प्रदेश के बराबर कहो, जो सर्वथा अभिन्न है वह पूर्णतया एक कहलाता है। सो अगर आकाश पूरा एक प्रदेश हो गया तो आकाश प्रदेशी न रहा। प्रदेशी उसे कहते हैं जिसके बहुत प्रदेश हों। जब प्रदेशी न रहा तो प्रदेश भी न रहा। फिर कुछ भी न रहा। फिर चर्चा किस बात की ?

आकाश अन्य अमूर्त पदार्थों जैसा अमूर्त पदार्थ है, फिर भी आकाश के बाबत कुछ-कुछ परिचय चलाया तो है। जैसे अन्य अमूर्त में उतनी गति नहीं कुछ समझने की विशेष। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य इनके बारे में कुछ अनुमान करते हैं, भीतर को अधिक नहीं समझ पाते, हाँ जीव के बारेमें हम खूब समझ लेते हैं क्योंकि जीव हम खुद हैं ना ? हम पर सब बातें बीतती हैं। तो अमूर्त होने पर भी जीव के बारे में समझ बहुत अच्छी बनती है। तो अमूर्तों में समझ का दूसरा नम्बर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुख्य होने पर भी अपने आप में कहीं इन्द्रिय आदिक के द्वारा निश्चय नहीं कराया जा सकता। उन्हें तो युक्ति से समझना होगा।

आगम प्रामाण्य से एक द्रव्य के बहुप्रदेशित्व का अवगम – आगम से भी धर्मादिक द्रव्यों का बहुप्रदेशित्व जानना होगा। अरहन्त भगवान के आगम की प्रमाणता से यह ही बात सिद्ध होती है। भगवान कौन ? जो समस्त पदार्थों को स्पष्ट जाने ऐसे ज्ञान का अतिशय जहाँ प्रकट हो उसे कहते हैं सर्वज्ञ। उनके द्वारा कहा गया आगम जिसको गणधरों ने सुनकर उसकी द्वादशाङ्ग रचना की और उनके शिष्य उनकी बुद्धि के प्रसार से परम्परा से आज आगम पाया जा रहा है। उसमें उपदेश किया। धर्मादिक के क्षेत्र बताना मुख्य ही है, ऐसा जानना चाहिये। दूसरी बात एक जीव के बारे में स्थित प्रदेश और अवस्थित प्रदेश का आगम में वर्णन है। जीव असंख्यात प्रदेशी है। जैसे आज इस शरीर में है, तो इस शरीर प्रमाण जीव है। तो इतना विस्तार तो बना, मगर एक-एक प्रदेश करके विस्तार देखा जाये तो असंख्यात प्रदेश हैं। और जब यह लोक भर में फैलता तब भी असंख्यात है। आकाश प्रदेश की अपेक्षा से तो ये अनेक प्रकार के असंख्यात बन गये, जो जीव के द्वारा क्षेत्र प्रदेश रोके गये और स्वक्षेत्र की दृष्टि से सभी जीवों में एक समान नियत असंख्यात प्रदेश होते हैं। संकोच विस्तार के कारण छोटे बड़े का प्रमाण नजर आता है।

स्थित और अस्थित आत्म प्रदेशों के निरूपण से एक जीव के बहुप्रदेशित्व की सिद्धि—आत्म-प्रदेशों को बताया गया है स्थित और अस्थित। जीव के मध्य के ८ प्रदेश इनमें योग नहीं होता, ये चंचल नहीं होते, यहाँ परिस्पंद नहीं होता, ये सर्वदा स्थित रहते हैं। और इसके अतिरिक्त भगवान अयोग केवली १४वें गुणस्थान में तो उनके सारे प्रदेश सिद्ध होते हैं और सिद्ध भगवान के सब प्रदेश स्थित हैं, वहाँ हलन-डुलन नहीं, परिस्पंद नहीं। यहाँ हम आप संसारी जीवों के प्रदेशों उन ८ प्रदेशों के अतिरिक्त बाकी प्रदेश चंचल हैं, उनमें परिस्पंद है, व्यायाम किया किसी ने तो प्रदेश का बहुत परिस्पंद है। दु:ख संताप आया तो बड़ा परिस्पंद, पर उन ८ प्रदेशों को छोड़कर शेष प्रदेशों में यह परिस्पंद है और वह अवस्थित है। तो शेष अन्य प्राणियों के कभी स्थित है कभी अस्थित। तो ऐसा जो विशेष रूप से निरूपण है उससे ही सिद्ध हुआ कि जीव में असंख्यात प्रदेश मुख्य ही हैं। इस तरह यहाँ यह बतलाया गया कि धर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश, अधर्मद्रव्य में असंख्यात और जीव द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं। दुनिया में क्या-क्या है, उनकी विशेष विवरण के साथ जब जानकारी होती है तो स्वपर का भेद विज्ञान बड़ा दृढ़ होता है कि यह तो सब पर है और यह मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप स्व हूँ। स्वपर भेद विज्ञान से ही आत्मकल्याण होता है। इस पंचम अध्याय के प्रथम सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार पदार्थ बताये गये थे—इसके आगे जीव को भी अस्तिकाय कहा है। इन ५ अस्तिकायों में किसके कितने प्रदेश हैं यह प्रकरण चल रहा है। तो धर्म, अधर्म एक जीवद्रव्य इनके प्रदेश कितने हैं वह वर्णन हो चुका। अब आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं, यह वर्णन करते हैं।

आकाशस्यानन्ताः ॥५-९॥

आकाश के प्रदेशों का परिमाण – आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश होते हैं। सूत्र में दो पद हैं— आकाशस्य और अनन्ता जिसका अर्थ है कि आकाश के अनन्त हैं। अब क्या अनन्त हैं ? तो यहाँ प्रदेश शब्द लेना। इससे पहले जो सूत्र था उसमें प्रदेशा: आया है और वहाँ से अनुवृत्ति ली गई है। अनुवृत्ति लेने का लोक में भी कायदा है और शास्त्रों में भी कायदा है। जैसे कहा कि शिखर फ्र

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कोई न बचेगा। वह बच्चा सबको खा जाएगा। और उपचार की बात है तो यही अपनी बात आयी कि वास्तव में सिंह तो कुछ और है और उसकी तरह इस बच्चे को बता रहे, तो ऐसे ही यहाँ यह बात नजर आती है कि प्रदेश तो वास्तव में पुद्गल में ही होते हैं, मगर उसकी तरह इसे समझाया जाता है। जैसी शूरवीरता, क्रूरता, तेज सिंह में है वैसे ही लक्षण उस बच्चे में नजर से आये तो जैसे वहां सिंह का उपचार कर दिया ऐसा ही उपचार इस एक द्रव्य के प्रदेश भेद मानने में है।

उक्त शंका के समाधान में सोपपदता होने से धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव सभी में स्वतन्त्र मुख्य प्रदेशों का औचित्य—उक्त शंका का यह उत्तर है कि एक द्रव्य के प्रदेश के लिये सिंह बालक का दृष्टान्त उचित नहीं बैठता, क्योंकि वहाँ तो यह बात है कि दो को एक विशेष्य विशेषण की तरह रखा जा रहा है। बालक सिंह है इस एक जीव के प्रदेशों का पुद्गल के साथ एक समान रूप से वर्णन नहीं है, किन्तु वहां पर स्वतन्त्र-स्वतन्त्र बात है। पुद्गल के इतने प्रदेश हैं, धर्मद्रव्य के इतने हैं। सबमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र बात कही गई, यह तो उपपद सहित है जैसे घट के प्रदेश ऐसे ही धर्मद्रव्य के प्रदेश। बालक सिंह इस तरह पुद्गल धर्म यह कुछ उपचार नहीं बन गया, सबमें स्वाधीन प्रदेश हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके क्षेत्र में है, अपने आपके भाव में है, किसी अन्य के क्षेत्र में नहीं है और इस दृष्टि से यह भी वास्तविक बात नहीं है कि हम आप सब आकाश में रह रहे। हम आकाश में रहते हैं यह बात तो तब कही जायेगी कि पहले तो हम आकाश से अलग धरे हों, और फिर उठाकर आकाश में धरे गये हों, तब यह कहना ठीक था कि हम आकाश में हैं। भले ही हम छोटे हैं और आकाश बड़ा है, फिर भी आकाश आकाश में है, हम हम में हैं। सभी एक जगह रह रहे हैं वह बात है मगर आधार आधेय तो तब समझा जाता है कि जब पहले आधार से अलग हों, फिर आधार में रखे हों। जैसे बोरे में चने भर दिये, ये चने बोरे में हैं यह बात ठीक है। चने पहले बोरे से अलग रखे, फिर उन्हें बोरे में रख दिया, पर ऐसा हम आप लोगों के लिए किसी भी द्रव्य के लिए नहीं है कि वह द्रव्य पहले आकाश में न था फिर किस तरह यह आकाश में आ गया? अनादि से समस्त द्रव्य हैं, अपने-अपने स्वरूप में हैं, अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में हैं, इसलिये एक को दूसरे का आधार नहीं बताया जा सकता।

अत्यन्त परोक्ष होने से धर्म द्रव्य आदि अमूर्त द्रव्यों में प्रदेशों का संव्यवहार प्रत्यक्ष न होने पर भी प्रदेशों की मुख्यता—यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जैसे घट की बात बिल्कुल स्पष्ट है, चौकी की बात बिल्कुल साफ है कि इस चौकी में इतने अवयव हैं, इतने अंश हैं, ऐसे धर्म या अधर्म, या एक जीव में तो विदित नहीं होता। तो स्वतः कोई अवधारण नहीं हो रहा। कोई यहाँ स्पष्ट बात नहीं चल रही। कैसे मानें कि धर्मादिक में प्रदेश होते हैं सो खुद ही को प्रकट होगा। अभी यहाँ यह बताते कि जितना आकाश का हिस्सा एक परमाणु रोके उतने को प्रदेश कहते हैं, और ऐसे-ऐसे प्रदेश धर्म में असंख्यात हैं तो यह तो दूसरे के द्वारा कथन बना। अगर इसमें खुद प्रदेश होते तो अपने आप ही कथन बनना चाहिये था। इस कारण से उतने प्रदेश मुख्य नहीं कहे जा सकते। उत्तर यह है इनका कि भाई धर्मादिक द्रव्य अमूर्त हैं, ये आँखों से देखे नहीं जा सकते, इसलिये परोक्ष हैं, तो इनको कैसे कहा जाए, कैसे निरखा जाए? घट आदिक तो प्रत्यक्ष हो रहे। चौकी टेबुल वगैरह साफ दिख रहे हैं, इसमें तो प्रदेश बताये जा सकते हैं, पर धर्मादिक तो सब अत्यन्त परोक्ष हैं। सो उनमें प्रदेश

http://sahjanandvarnishastra.org/

दिया है। जीव कितने होते हैं ? देखिये—मनुष्यों की संख्या चारों गतियों में सबसे कम है। और मनुष्यों से असंख्यात गुने नरक गति के जीव हैं और नारकियों से असंख्यातगुने देवगति के जीव हैं। देवगति के जीवों से असंख्यातगुने त्रस जीव हैं। जितने अभी बताये ये तो आ ही गए और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये भी मिल गये तो ये सभी त्रस जीव कहलाते हैं, और इन त्रस जीवों से असंख्यातगुने निगोद को छोड़कर बाकी के सब स्थावर जीव हैं। पृथ्वीकाय जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय और जितने जीव अभी बताये हैं स्थावर तक के उन सबसे अनन्त गुने सिद्ध भगवान हैं, और सिद्ध भगवान से अनन्त गुने निगोदिया जीव हैं। अब जीवों की संख्या जान लो इन अनन्तानन्त जीवों में से एक एक प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। ✓

सूत्र में असंख्येयाः प्रदेशाः इन दो पदों को समास न करके अलग अलग प्रयुक्त करने का प्रयोजन—सूत्र में तीन पद दिये हैं, असंख्येयाः प्रदेशः धर्माधर्मैक जीवानां, यह जो सम्बन्ध विवक्षा की है, इसके प्रदेश असंख्यात हैं। तो प्रदेश तो पदार्थ से जुदे नहीं हैं, मगर कथञ्चित् भेद पूर्वक कहे बिना समझ ही न आयेगी और उसी के वास्ते यहाँ सम्बन्ध का निर्देश किया है। इसके प्रदेश होते हैं समझने के लिये। एक जो सम्पूर्ण द्रव्य है वह तो द्रव्य है और एक क्षेत्र की दृष्टि से परमाणु में देखें तो वहाँ यह प्रदेश है। तो कथञ्चित् प्रदेश के भेद का परिचय बन रहा है अन्यथा समझाने का व्यवहार भी खतम हो जायेगा। इसी तरह यहाँ सम्बन्ध का निर्देश किया, अन्यथा सूत्र यों बना सकते थे—असंख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैक जीवानां या असंख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवाः एक दो अक्षर कम हो गये। और सूत्र में जितने अक्षर कम हों उतना ही महत्त्व माना जाता है। पर ऐसा क्यों न किया गया ? सम्बन्ध बुद्धि की और असंख्येय प्रदेश इनको भिन्न-भिन्न पदों में रखा, इसका एक कारण यह भी है कि यदि इस सूत्र में असंख्येयाः प्रदेशाः, यों अलग-अलग न बोलते तो आगे जितने सूत्र बताये जाते प्रदेश बताने के लिये सभी सूत्रों में प्रदेश शब्द देना पड़ता। असंख्यात प्रदेशी तो ये हैं तो अनन्त प्रदेशी आकाश है और संख्यात असंख्यात, अनन्तप्रदेशी पुद्गल हैं, यों बोलना पड़ता, तो यहाँ ही एक शब्द की ही तो बात है। इतना लाघव न किया तो उसका लाभ यह हुआ कि आगे जितने सूत्र कहे जायेंगे सबमें लाघव बन जायेगा। लाघव कहते हैं छोटे सूत्र को, सब छोटे सूत्र बन जायेंगे। इसलिये यहाँ कर्मधारय समास न करके भिन्न-भिन्न पदों में यह बात रखी गई।

बालक को उपचार से सिंह बताने की तरह निरवयव एक द्रव्य को उपचार से ही बहुप्रदेशी कहे जाने की आरेका—अब पुनः एक शंका बनती है कि जब इतना वर्णन चल रहा है जीव के बारे में और इसका प्रमाण जाना जा रहा है तिस पर भी आपने बताया कि यह निरवयव है—यह एक-एक द्रव्य, इसमें विभाग नहीं हैं, टुकड़े नहीं हैं। आधा पाना नीचा-ऊँचा ये कोई विभाग नहीं हैं। निरवयव हैं, तब तो प्रदेश कल्पना बिल्कुल उपचार की है, वास्तविक नहीं है। समझाने के लिये प्रदेश की कल्पना है कि लोग समझ जाएं कि यह एक द्रव्य इतना बड़ा है। वास्तव में प्रदेश तो परमाणु में हैं। स्कन्धों में खूब समझ में आ रहा। बाकी जो सबमें बहुत प्रदेश बताये जाते हैं वह तो एक उपचार की बात है, अन्दाज की बात है। कैसे कि वास्तव में द्रव्य है पुद्गल और पुद्गल की तरह समझा गया इसको तो यह उपचार है। जैसे किसी बच्चे को कहते हैं कि यह तो सिंह है तो यह बात सचमुच है या उपचार की बात है ? अगर सचमुच है तो बस घर खतम हो जाएगा। फिर तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक धर्मद्रव्य है जो असंख्यातप्रदेशी कहा गया है। तो धर्मद्रव्य का निज का है। सो तो युक्त ही है। हाँ दोनों कहो, अन्य कहो। तो धर्मद्रव्य के वर्णन में जब यह कहा जाए कि धर्मद्रव्य के द्वारा अवगाहित जो आकाश प्रदेश है तो वह प्रदेश अन्य है, पर धर्मद्रव्य के स्वयं के क्षेत्र में जो असंख्यात प्रदेश बताये हैं वे तो द्रव्य के ही मुख्य हैं। ऐसे ही अधर्मद्रव्य के और एक जीव द्रव्य के उसके जो प्रदेश कहे गए हैं वे मुख्य हैं। निजका द्रव्य, निजका क्षेत्र, निजका काल और निजका भाव वह तो निज द्रव्य का ही है। तो निज केवल द्रव्य का जो क्षेत्र है उस ही को असंख्यात रूप से बताया।

मुख्य क्षेत्र विभाग होने से एक द्रव्य की निरवयवता की अनुपपत्ति की शंका व समाधान— अब इसी से सम्बन्धित एक शंका और हो सकती है कि यदि धर्मद्रव्य में असंख्यात प्रदेश मान लिया, अधर्म में एक जीव में असंख्यात प्रदेश मान लिया तब तो यह निरवयव न होगा याने इसके अवयव बन गए। जैसे शरीर के अवयव हैं, पैर हैं, हाथ हैं, पेट है, सिर है तो इसके बाद क्षेत्र में है ना यह शरीर। इतना ही बड़ा परिमाण जब धर्म, अधर्म और एक जीव का है तो वह अवयव रहित नहीं कहलाया। निरवयव नहीं बनेगा। उनमें भी अवयव बन गये। जैसे कुर्सी टेबुल में अवयव हुए क्योंकि अब तो प्रदेश को मुख्य विभाग मान लिया कि उसके विभाग हैं। वह मुख्य मान लिया गया। तो फिर अब यह ही बन जाएगा। इस शंका का उत्तर यह है कि एक द्रव्य में मुख्य विभाग तो माना है, पर द्रव्यदृष्टि से नहीं माना, क्षेत्र दृष्टि से है वह बात। अवयव नाना तो तब कहलाते जब कि द्रव्य दृष्टि से यह नानापन होता। जैसे चौकी में द्रव्य नाना हैं, अनन्त परमाणु हैं तो उनके अवयव बन जायेंगे। यह निचला अवयव है, यह चौड़ाई में है, यह पाया में है। यों अवयव बन जायेंगे, मगर जो एक ही द्रव्य है उस एक का अवयव कुछ नहीं हो सकता। भले ही क्षेत्र से असंख्यात प्रदेश हैं मगर वह एक है। देखिये जो अवयवी हो, जिसमें बहुत अवयव होते तो वहाँ यह बात बना करती है कि एक अवयव में कुछ घटना घटी तो अन्य अवयव में नहीं घटती। चौकी का एक हिस्सा जला तो बाकी हिस्सा नहीं जल रहा। बुझा दीजिए उतनी जल चुकी, बाकी चौकी सही है, क्योंकि यह चौकी अनेक द्रव्य है। एक द्रव्य में ही यह बात नहीं घटी। अब जैसे एक जीव है तो उसमें यह न बन पाएगा कि पैर के प्रदेशों में तो मौज माना जा रहा और हाथ के प्रदेश कष्ट मान रहे। कष्ट होगा तो समग्र भाव में होगा क्योंकि वह एक है, मौज होगा तो समग्र जीव में होगा। धर्मद्रव्य में भी जो अगुरुलघुत्वगुण की षड्गुण हानि वृद्धि से जो एक परिणमन होता है वह एक ही समग्र में है, किन्तु घट पट आदिक पदार्थों में ऐसी बात नहीं बनती। इससे सिद्ध है कि स्कन्ध तो अवयव वाला है, पर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एक जीव आकाश भी प्रत्येक एक-एक द्रव्य निरवयव है।

सूत्रगत एक शब्द की सार्थकता—यह सूत्र चल रहा धर्म, अधर्म और एक जीव के प्रदेश परिमाण का। तो इस सूत्र में एक जीव शब्द दिया। उसका तात्पर्य यह है कि एक जीव के हैं असंख्यात प्रदेश। जीव तो अनन्तानन्त हैं। उनके प्रदेश तो मिलने-जुलने से अनन्तानन्त बनेंगे फिर। फिर मिलने जुलने का क्या सवाल? प्रत्येक जीव का सत्त्व अलग अलग है, और उनमें से एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। इसी कारण इस सूत्र में एक जीव शब्द दिया है। जैसे धर्म द्रव्य एक है, दो या अनेक हैं ही नहीं तो वहाँ एक शब्द देने की जरूरत नहीं पड़ती। अधर्मद्रव्य भी एक है, अनेक नहीं है, इस कारण अधर्म के साथ ही एक शब्द बोलने की आवश्यकता नहीं हुई। किन्तु जीव हैं अनन्तानन्त। परन्तु एक एक जीव में यह असंख्यात प्रदेशी है, यह बताने के लिए इस जीव के एक शब्द

बराबर व्यापकर अवस्थित हैं, किन्तु जीव उतने प्रदेश वाला है जितने कि धर्म द्रव्य में प्रदेश हैं, फिर भी उसके संकोच विस्तार का स्वभाव है। यह स्वभाव भी अन्य द्रव्य में न मिलेगा। परमाणु का भी संकोच विस्तार नहीं है, वहां तो बंध है, मिलना-जुलना है, बिछुड़ना है। अलग-अलग हो जाते हैं। धम द्रव्य में भी संकोच विस्तार नहीं, अधर्म में भी नहीं आकाश में भी नहीं और कालद्रव्य में भी नहीं।

जीव पदार्थ में ही कर्मोपाधिवश संकोच विस्तार—जीव एक ही ऐसा पदार्थ है कि जिसके प्रदेश का परमाणु संकुचित भी हो जाये और विस्तार भी हो जाये तो इस संकोच और विस्तार का कारण क्या है ? कर्मोदय। पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त पाकर जैसी शरीर रचना हुई है उसमें फैल गया, अथवा सिकुड़ गया। तो जीव के प्रदेशों का सिकुड़ना या फैलना यह कर्मोदय का निमित्त पाकर होता है और यही कारण है कि जो जिस शरीर से मुक्त होता है वह उसी शरीर प्रमाण रहता है मोक्ष में। कुछ लोग पूछते हैं कि वे सिद्ध वटबीजप्रमाण या सर्वव्यापकयों क्यों नहीं रहते हैं। तो कोई जवाब देवे कि उससे घटकर रहे या बढ़कर ? घट जाये इसका कारण क्या ? बढ़ जाये इसका कारण क्या ? घटने-बढ़ने का कारण तो कर्मोदय था। अब कर्मक्षय हो गया तो न घट सकता और न बढ़ सकता। जिस प्रमाण में था, मुक्त हुआ, मोक्ष होने पर वही प्रमाण रहता है। इस प्रकार इस अस्तिकाय के प्रमाण में प्रदेश बताये हैं—धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात। और वह असंख्यात भी न जघन्य असंख्यात न उत्कृष्ट असंख्यात किन्तु मध्यम असंख्यात। असंख्यात भी असंख्यात तरह का होता है, उसमें जघन्य असंख्यात भी नहीं है, उत्कृष्ट असंख्यात भी नहीं है किन्तु मध्य का असंख्यात और वह भी एक नियत। उसकी गणना नहीं है इस कारण स्पष्ट ध्यान में नहीं आता मगर युक्ति से, आगम से यह भले प्रकार सिद्ध है कि इसमें असंख्यात प्रदेश होते हैं।

एक द्रव्य में प्रदेशपरिमाण निरूपण की संगतता में आशंका—पञ्चम अध्याय के प्रथम सूत्र में अजीव अस्तिकायों के नाम लिये और उसके बाद जीव अस्तिकाय को भी बताया था। तो अस्तिकाय शब्द से इतना तो बोध हुआ कि ये द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गल भी भी लिया गया है, स्कन्ध के नाते से और जीवद्रव्य, ये सब बहुप्रदेशी हैं। अब यहाँ प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशों की गणना बता रहे हैं। इस सूत्र में बताया गया है कि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी होते हैं। यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तो एक द्रव्य हैं और एक जीव भी एक द्रव्य है। तो एक द्रव्य में प्रदेश की कल्पना करना उपचार सा मालूम होता है। जैसे बड़ी चीज हो, चौकी है तो कह सकते हैं कि इसमें अनन्त प्रदेश हैं, अनन्त परमाणु हैं। इसके अनन्त हिस्से हैं मगर एक द्रव्य के बारे में हिस्सा बताना, प्रदेश बताना, अवयव बताना यह कैसे ठीक हो सकता है। और उपचार की जो बात है वह मिथ्यावचन है और मिथ्यावचन का तत्त्वपरीक्षा में कोई अधिकार नहीं। लोकव्यवहार में तो उपचार चलेगा, किन्तु जहां तत्त्व परीक्षण हो रहा वहाँ उपचार से कोई प्रयोजन नहीं। झूठ बात की क्या चर्चा बढ़ाना ? पानी से तो प्यास बुझेगी, मृग-तृष्णा से नहीं इसलिये एक द्रव्य में असंख्यात प्रदेश बताना यह उपचार से कही हुई बात है, वास्तव में नहीं है। जो एक द्रव्य है सो एक है, उसमें अवयव की क्या कल्पना ?

एक द्रव्य में मुख्य क्षेत्र विभाग प्रतिपाद्य होने से प्रदेश परिणाम निरूपण की संगतता का समाधान—उक्त शंका का उत्तर देते हैं। कल्पना नहीं, उपचार नहीं किन्तु मुख्य क्षेत्र का विभाग है।

http://www.jainkosh.org

गया मगर धर्म द्रव्य के प्रदेश संकोच में नहीं आते। वे नित्य अवस्थित हैं। जैसे हैं वैसे ही हैं। तो इस प्रकार धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव इनके असंख्यात प्रदेश होते हैं।

असंख्यात को असंख्यात रूप में ही जानने में सर्वज्ञता—यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जब इसके प्रदेश गिनने में ही नहीं आवें तो फिर उन प्रदेशों की कोई जानकारी ही नहीं रहती। कितने हैं प्रदेश ! उनकी कुछ गणना ही नहीं है तब फिर उनको कोई जान ही नहीं सकता। तो कोई फिर सर्वज्ञ नहीं रहा। कहते हैं जो सबको जाने सो सर्वज्ञ। जीवके सब प्रदेशोंको कहाँ जाना ? वे गिनती में ही नहीं आते। तो इस तरह तो असर्वज्ञता आ जायेगी। उत्तर में कहते हैं कि यह शंका करना ठीक नहीं, कारण यह है कि जानने में आया, मगर वह असंख्यात, असंख्यात रूप से जानने में आया, ये गिने नहीं जा सकते। इतने हैं इस रूप से जानने में आये तो जान लिया ना सबको। और ठीक ही जाना। असंख्यात को असंख्यात रूप से जानना यथार्थ जानना है। अनन्त को अनन्त रूप से जानना यथार्थ ज्ञान है। यदि असंख्यात को गिनती रूप में जाना जाता तो झूठा ज्ञान है। और जो जैसा अवस्थित है उसको उस तरह से जानना यह है सम्यग्ज्ञान। तो इस प्रकार सिद्ध हुआ कि धर्म द्रव्य के असंख्यात प्रदेश, अधर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेश और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

प्रदेश का प्रदेशन—प्रदेश का अर्थ क्या है ? प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति प्रदेशः जो प्रतिपादित हो, जो समझाया जाये वह प्रदेश है, यह कैसे प्रतिपादित किया गया ? एक परमाणु जितनी जगहको घेरे उसे कहते हैं एक प्रदेश। परमाणु नाम है अविभागी पुद्गल द्रव्य का। जो कुछ ये दिखते हैं ये सब स्कन्ध हैं, इनमें अनन्त परमाणु हैं। असंख्यात, संख्यात या दो चार परमाणु का कोई स्कन्ध बना हो तो वह आँखों से दिखने में न आयेगा। अर्थात जब अनन्तानन्त परमाणु हैं तब दृश्य होते हैं। फिर भी वे सब एक एक ही तो हैं। वे बिखर जायें और बिखरते बिखरते उनमें एक परमाणु रह जाये तो वह एक प्रदेश है। परमाणु परमाणु एक प्रदेशी। अब ऐसा ध्यान में लीजिए कि सूई की नौक से जितना गड्ढा हो सकता है कागज में या पृथ्वी पर उतनी जगह में अनगिनते प्रदेश होते हैं आकाश के। इतनी जगह में पड़ा हुआ कोई स्कन्ध है तो वह भी अनगिनते परमाणुओं का स्कन्ध है अनन्त का भी हो सकता है एक परमाणु कितना होता है ? आज के विज्ञान में अणु बम, परमाणु बम कहते तो हैं मगर वह अणु नहीं है वह परमाणु नहीं है। अणु का कभी प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह तो अपने आप जो कुछ हो सो हो। ये अणु बम परमाणु बम, यह भी अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। मगर शस्त्र विद्या में कम से कम जो कुछ स्कन्ध उनमें तैयार हों उसका नाम परमाणु रखा। यही उनकी दृष्टि में छोटा है।

प्रदेश लक्षण के आधार पर असंख्येय प्रदेश वाले पदार्थों का निरूपण—एक परमाणु जितनी जगह को घेरे उसे कहते हैं एक प्रदेश। एक परमाणु दो प्रदेशों को नहीं घेर सकता। हाँ एक प्रदेश में कई परमाणु रह सकते हैं। वह तो एक अवगाहना की बात है, किन्तु एक परमाणु दो प्रदेशों को नहीं घेर पाता। तो एक परमाणु द्वारा जितने प्रदेश घिरे उसका नाम है प्रदेश। तो ऐसे ऐसे असंख्यात प्रदेश हैं धर्म द्रव्य में। और ठीक उतने ही अधर्म द्रव्य में प्रदेश हैं और ठीक उतने ही एक जीव में प्रदेश हैं। चाहे चींटी के शरीर का जीव हो, चाहे हाथी के शरीर का जीव हो, प्रदेश सबके बराबर हैं, असंख्यात हैं। यह छोटे बड़े का जो अन्तर लग रहा है यह संकोच और विस्तार के कारण है। तो इन तीन में जिसके असंख्यात प्रदेश बताये गये, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तो निष्क्रिय हैं और लोकाकाश

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखिये—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का आदि अन्त परिमाण है। आकाश की तरह अनन्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह लोकाकाश में ही रहता है, और लोक का परिमाण है। पृथ्वी, ढेला, पत्थर आदिक जो कुछ बने हैं, यह ही तो समस्त लोक है, तो इन का अन्त जरूर है कहीं। चाहे कितना ही बड़ा विस्तार हो, पर लोक का अन्त कहीं जरूर है। तो धर्म द्रव्य लोकाकाश में है। जहाँ तक लोक है वहाँ तक धर्मद्रव्य है, या कहो कि जहाँ तक धर्मद्रव्य है वहाँ तक लोक है, तो धर्मद्रव्य का भी कहीं अन्त है इसलिये अनन्त प्रदेश तो हो नहीं सकते, पर इतना विशाल है कि उनके प्रदेश गिने नहीं जा सकते, इस कारण संख्यात भी नहीं है और संकोच विस्तार भी नहीं होता। भैया, मूल गणनायें ३ होती हैं—(१) संख्यात, (२) असंख्यात और, (३) अनन्त। धर्म अधर्म द्रव्य के प्रदेश अनन्त तो हैं नहीं, संख्यात भी नहीं, तब असंख्यात हैं यह अपने आप सिद्ध होता है। धर्म द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं। अधर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं। और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं।

लोक पूरण समुद्घातकी स्थिति से जीव के असंख्येय प्रदेशों का स्पष्ट परिचय - एक जीव के ये प्रदेश कैसे समझे गए ? तो यों समझिये कि किसी अवस्था में यदि यह जीव फैल जाये तो उतना ही फैल पाता है जितना कि धर्म द्रव्य का परिमाण है, लोकाकाश का परिमाण। इतना फैलता कब है ? केवली समुद्घात अवस्था में। जब किसी मुनिराज के चार घातिया कर्म का क्षय हो जाता है तो वह संयोग केवली अरहंत कहलाता है। उनके अभी चार अघातिया कर्म बाकी हैं—(१) वेदनीय, (२ आयु, (३ नाम और, (४) गोत्र। सो आयु तो बहुत थोड़ी होती है उन तीन कर्मों के मुकाबले में और शेष तीन कर्म लाखों करोड़ों वर्षों के या उससे भी अधिक के होते हैं। तो यहाँ एक समस्या यह आती है कि आयु तो है मानो थोड़ी, मान लो चार मिनट की रह गई और तीन कर्म हैं लाखों करोड़ों वर्ष के तो आयु का क्षय होने पर फिर यह शरीर तो रहेगा नहीं, तो तीन का क्या हाल होगा ? तीन कर्म तो सत्ता में हैं। तो बात यह है कि जिस समय आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त रह जाता है उस समय में सयोग केवली भगवान के समुद्घात होता है अर्थात् वे जीव प्रदेश शरीर से बाहर फैलते हैं और पहले तो वे दण्डाकार फैलते हैं। पद्मासन में विराजे हों अरहंत भगवान तो उस आकार फैलते हैं। षड्गासन से विराजे हों उस ढंग से फैलते हैं, तिगुने आकार फैलते हैं, मगर लोक हैं १४ राजू तो वह सींक से भी पतला जैसा समझ लीजिए हो गया। डंडे के आकार हो गया फिर अगल बगल फैलता है फिर कपाट (किवाड़) के आकार हो गये प्रदेश। फिर आगे पीछे फैलते हैं, प्रतर हो गया फिर बाकी जो वातवलय बचा है उसमें फैलते हैं, उस समय सारे लोक में जीव के प्रदेश फैल चुकते हैं। उसके बाद घटते भी उस ही क्रम से हैं, फिर शरीर प्रमाण रह जाते हैं। इस क्रिया में बाकी के जो तीन अघातिया कर्म हैं वे आयु कर्म के करीब बराबर हो जाते हैं। जो कुछ अन्तर रहता है तो बाद में अपने आप नष्ट हो जाता है। तो चारों कर्म एक बराबर के हो गए। तो एक साथ क्षय हुआ और मोक्ष उनका हुआ। तो यहाँ यह बात जानना कि जिस समय लोक पूरण समुद्घात हुआ उस समय लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जीव का एक-एक प्रदेश हो गया, और जीव के मध्य के जो ८ प्रदेश हैं वे मेरु पर्वत के नीचे बीचोबीच मध्य में जो ८ प्रदेश हैं वहां है और शेष सर्वत्र एक-एक प्रदेश पर प्रदेश-प्रदेश ठहर कर ऊर्ध्वलोक मध्यलोक अधोलोक में समग्र लोकाकाश को व्याप लेते हैं। तो जीव धर्मद्रव्य के प्रदेश बराबर हो गये लोक पूरण अवस्था में, उससे जाना गया कि ये जीव के भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। अब जीव के प्रदेश तो संकोच में आ जाते कि यह देह बराबर हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मगर वे चित्र जो नजर आये वे क्या फिल्म की रील पर दौड़ रहे? जैसे एक यह हाथ है, इसको इधर से उधर करके १०० बार उस हाथ के फोटो लिये गए तो १०० तरह के फोटो नजर आये मगर वह फोटो रील में अपनी जगह निष्क्रिय हैं। उनका चलाव नहीं है, पर उनको जो लगातार दिखाया जाता है तो चलता हुआ नजर आता है। तो चलते हुये जो नजर आता है वह तो भ्रम है कि सच है ? वह भ्रम है। एक-एक फोटो में एक-एक ही फोटो है और अपनी जगह उतनी ही है वहाँ क्रिया रंच भी नहीं है। तो उनका जो चित्रण हुआ सनीमा के पर्दों पर तो वहाँ पर भी एक-एक ही अक्स आ रहा है। उनकी क्रिया नहीं हो रही है मगर जो पास-पास के वे चित्र हैं सो एक संतान लगने लगते हैं कि हाँ चलो ऐसे ही जो पदार्थ चल रहे हैं सो हर एक प्रदेश पर नया-नया पदार्थ उत्पन्न हुआ है और वे निकट-निकट होने से उसमें भ्रम हो गया कि ये चलते हैं। क्षणिकवादी कहते हैं कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं। सो निष्क्रिय ही हैं, क्रिया किसी में नहीं है। ✓

सर्वथा क्षणिकत्व का निराकरण होने से पदार्थों की सक्रियता का समर्थन—उक्त शंका का समाधान यह है कि ऐसा किसी को प्रतीति में नहीं आ रहा कि पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होता है। वही-वही पदार्थ है, उसका परिणाम बदलता है। जैसे आप यह एक जीव हैं। बचपन गुजरा, जवानी गुजरी, बुढ़ापा आया और उस बीच घण्टे-घण्टे में हजारों तरह के विचार चले तो ये परिणमन तो हुए आपके पर ये अलग पदार्थ नहीं हैं। यदि ये अलग-अलग पदार्थ हों—८ बजे दूसरा जीव, ८ बजकर एक मिनट बाद दूसरा जीव, तो उस एक मिनट पहले वाले जीव की बात दूसरे मिनट में होने वाले जीव को याद क्यों रहती है ? और उससे अपना सिलसिला क्यों जोड़ता है ? जैसे कि दूसरे शरीर में रहने वाले जीव की बात दूसरे में कुछ नहीं है क्योंकि वह अलग-अलग हैं। ऐसे ही यहाँ भी अलग-अलग हैं, फिर तो कुछ व्यवहार ही नहीं हो सकता। लेन-देन दूकान, आपसी व्यवहार बोलचाल सब खतम हो जायेगा। वस्तुतः पदार्थ क्षणिक नहीं है। अब सिद्धान्त क्या निकला कि सभी पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य हैं, पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं, प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है, सर्वथा नित्य भी कुछ नहीं है। कोई सोचे कि सर्वथा नित्य मान लें निष्क्रिय बन जाएगा तो ऐसा कोई पदार्थ होता ही नहीं है कि पर्याय शून्य हो। उसका कोई व्यक्त रूप नहीं होता। तो सभी पदार्थ कथञ्चित् सक्रिय हैं और कथञ्चित् निष्क्रिय हैं, और इस दृष्टि में परिणमन को क्रिया मानना।

क्रिया की अपेक्षा सक्रिय निष्क्रिय द्रव्यों का परिचय—यह प्रकरण चल रहा है एक देश से दूसरे देश में पहुँचने वाली क्रियाओं का। क्रिया की अपेक्षा सभी सक्रिय नहीं हैं किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो निष्क्रिय हैं और जीव पुदगल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं, इस प्रकार अजीव पदार्थ में निष्क्रिय और सक्रियपने का एक निर्णय हुआ। अब सर्वप्रथम सूत्र में बताया था किसी अध्याय में कि ये अजीवकाय हैं धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अस्तिकाय हैं, उससे यह तो जानने में आ गया कि यह बहुप्रदेशी हैं जो बहुप्रदेशी होता है उसको अस्तिकाय कहते हैं। तो यह तो ज्ञान हो गया पर यह नहीं मालूम पड़ा कि किस द्रव्य में कितने प्रदेश होते हैं। सो अब प्रदेशों की इयत्ता याने परिमाण बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम् ॥५-८॥

असंख्यात प्रदेश वाले द्रव्यों का निर्देश—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव, इसके असंख्यात प्रदेश होते हैं। कैसे जाना कि इसके असंख्यात प्रदेश होते हैं ? तो धर्म और अधर्म द्रव्य का परिमाण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्याय में अजीव पदार्थों का वर्णन चल रहा है। अजीव पदार्थ हैं ५। (१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश और, (५) काल। अजीवों में से अस्तिकाय हैं ४—पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। और जीव द्रव्य भी अस्तिकाय है। तो यों अस्तिकाय की दृष्टि से ५ द्रव्य हैं (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म और, (५) आकाश। इनमें जीव और पुद्गल तो क्रियावान हैं, धर्म, अधर्म, आकाश ये क्रियावान नहीं हैं। जीव क्रियावान है, इस सम्बन्ध में बहुत चर्चा चली, पर अन्त में यह बात निष्कर्ष में आयी कि जीव अगर निष्क्रिय होता तो शरीर के अंगों में क्रिया का कारण न बन सकता था। तो जीव भी सक्रिय है और मुक्त हो जाने पर एक समय का ऊर्द्धगमन स्वभाव से क्रिया करके मोक्ष में पहुँचता है। तो वह है स्वाभाविक गति। मोक्ष में अब क्रिया तो नहीं होती। तो यों समझिये कि क्रियावती शक्ति का शुद्ध परिणमन चल रहा है। पर अन्य गुणों में परिणमन रूप क्रिया हो रही है। इस तरह से कथञ्चित् सक्रिय वहाँ भी कह सकते, पुद्गल भी सक्रिय है और उनमें क्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्रयोग के कारण भी होती है। जैसे एक पुद्गल अणु गति करता है, स्वभाव है। ये स्कन्ध ढेला पत्थर ये चलाये चलते हैं, फेंकने से फिकते हैं। तो यह प्रायोगिक हुआ। प्रायोगिक कैसा कि जैसे स्पष्ट दिखता है कि इञ्जन चल रहा, एक की क्रिया में दूसरा निमित्त हो रहा, यह सब प्रयोग की क्रिया कहलाती है।

क्रियावान से क्रिया का कथंचित् भेद व कथंचित् अभेद—इस क्रिया के बारे में बतलाया कि यह क्रिया क्रियावान से सर्वथा भिन्न नहीं है कि क्रिया कहीं पड़ी हो और क्रिया होने वाला अलग हो। यदि भिन्न हो तो क्रिया हो ही नहीं सकती, क्योंकि उनमें संयोग तो होता नहीं। समवाय की टेक करते हैं वैशेषिक। तो वह समवाय एक तरह का तादात्म्य है अभेद है। कथनमात्र का भेद है। तो सर्वथा अभेद भी नहीं बनता, क्योंकि एक ही हो जाये तो क्रिया और क्रियावान ये संज्ञा नहीं हो सकतीं। सर्वथा भेद भी नहीं है कि क्रिया अलग पड़ी हो, क्रियावान अलग पड़ा हो। जैसे डंडा और डंडी ये अलग है तो संयोग बन जाने पर एक कहां से हो?

क्षणिक पदार्थों में क्रिया की असंभवता की आरेका—अब एक शंका और हो सकती है क्षणिकवादियों की ओर से। एक क्षणिकवाद सिद्धान्त है। यह मानता कि प्रत्येक पदार्थ एक समय को रहता है और नष्ट हो जाता है। नया ही उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। यों क्षणिकवाद का कहना है कि जब सर्वपदार्थ अनित्य हैं, एक क्षण को हुये और बाद में मिट गए तो उनमें क्रिया कैसे बनेगी? क्रिया तो तब बने जब कुछ समय ठहरे। तो यह चल रहा, परन्तु पदार्थ तो ठहरता ही नहीं, क्षण-क्षण में नया-नया होता जाता है। जैसे कि जैन सिद्धान्त में मानते ना कि क्षणिकवर्ती पर्याय एक क्षण को पर्याय हुई और वह मिट गई तो वह पर्याय में ही पदार्थ है, ऐसा क्षणिकवादियों का कथन है और वह क्षण भर को हुई और खतम हो गई। फिर क्रिया कैसे बनेगी, इसलिये सभी पदार्थ क्रियारहित हैं। सिद्धान्त के अनुसार जो कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, तो जैसे कोई एक घोड़ा दौड़ रहा है, तो वहाँ यह बात नहीं है कि कोई एक घोड़ा है और वही दौड़ रहा है। इस प्रदेश में घोड़ा है, वह दूसरा है। दूसरे प्रदेश में घोड़ा है वह दूसरा पैदा हुआ, तीसरे अंगुल पर घोड़ा आया तो अन्य पैदा हुआ। इस तरह नये-नये घोड़े पैदा होते रहते हैं और लोगों को भ्रम हो रहा है कि एक ही घोड़ा जा रहा है। यह सब शंकाकार की तरफ से कह रहे हैं, वह कैसी युक्ति दे रहा। उसकी एक युक्ति और भी देखें जैसे सनीमा के पर्दे पर दौड़ते हुये चलते हुये चित्र नजर आते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो जैसे शर्बत में मिल जुल कर भी सब चीजें अलग अलग हैं ऐसे ही अन्य अन्य चीजें भी जान लें कि जीव है तो एक देश में रहने के कारण एक हो जाये इसके लिये दृष्टान्त दिया सो यह बात नहीं बनी।

शास्त्रीय दृष्टि से क्रिया को क्रियावान से अभिन्न मानने की आरेका का समाधान—अगर शास्त्रीय विधि से पूछते हो तो शास्त्रीय विधि का अर्थ यह है कि जैसे एक ही जगह पर हवा भी चल रही, धूप भी हो रही। अब यह बतलाओ कि एक ही आकाश प्रदेश में धूप भी है, हवा भी है, धूप में हवा है। हवा में ही धूप है। तो शर्बत की अपेक्षा इनमें अधिक मिक्सचर है, मगर धूप अपने धूप अवयवों में रहती है और वायु अपनी वायु में रहती है कभी बड़ी धूप भी पड़ रही हो, और हवा भी चल रही हो, कुछ ठंड के दिन हो और आप कोई खेस ओढ़कर बैठ जायें तो आपको हवा न लगेगी धूप लगेगी। उसके जानने के उपाय भी हैं। तो ऐसे ही समझिये कि क्रिया है क्रियावान के आश्रय में और क्रियावान पदार्थ है अपने अवयवों के आश्रय में। जैसे घोड़ा चल रहा है तो चलना तो घोड़े में है और घोड़ा अपने अवयवों में है, ऐसा आश्रयभूत भी भिन्न मिल गया, इससे भी जाना जाता कि वह एक नहीं है।

क्रिया व क्रियावान के भेद अभेद की समस्या का स्याद्वाद से समाधान—स्याद्वाद का सहारा लिये बिना कोई भी तत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अब यह बतलाओ कि प्राण जीव से भिन्न हैं या अभिन्न? अगर कहो कि जीव से भिन्न हैं प्राण तो फिर जीव को कुचलते जाओ, प्राण का क्या बिगड़ेगा? वह तो न्यारा पड़ा है, हिंसा कुछ नहीं होने की। अगर कहो कि जीव से प्राण न्यारा नहीं है तो जीव तो अमर है। सो कुचलने से प्राण भी कभी खतम न होंगे, क्योंकि वे एक हो गये। क्या उत्तर बनेगा? तो उत्तर देंगे स्याद्वादी कि कथञ्चित भिन्न हैं कथञ्चित अभिन्न हैं। क्रिया क्रियावान से भिन्न है या अभिन्न? कोई कहता है कि भिन्न है तो उसमें भी दोष और कोई कहता है कि अभिन्न है उसमें भी दोष। स्याद्वाद उत्तर देता है कि कथञ्चित भेद हैं और कथञ्चित अभेद। तो यह भी सिद्ध न हो सकेगा कि क्रिया क्रियावान से अत्यन्त अभिन्न होती है।

क्रम प्राप्त अजीव द्रव्यों के वर्णन के प्रसंग में निष्क्रिय अजीवकायों का प्रकृत सूत्र में कथन—निष्क्रियाणि च, यह सूत्र कहा जा रहा रहा है, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये तीन अस्तिकाय तो निष्क्रिय हैं, रंच भी हिलते-डुलते नहीं। आकाश अनन्त है, सर्वव्यापी है उसमें हिलना डुलना बोलने का क्या सवाल? धर्म अधर्म द्रव्य भी लोकाकाश प्रमाण हैं, लोकाकाश में सर्वव्यापी हैं, उसकी भी क्रिया कुछ नहीं। तो ये तीन अस्तिकाय निष्क्रिय बताये गये तो उसका अर्थ यह हुआ कि शेष बचे दो अस्तिकाय, जीव और पुद्गल। ये क्रियावान पदार्थ हैं। मोक्ष शास्त्र में ७ तत्त्वों का विवेचन किया गया है। जैसे कि प्रथम अध्याय में बताया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष मार्ग है। और सम्यग्दर्शन क्या? प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तः वह तत्त्व क्या है? कितना है। उत्तर बताया गया था कि जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व हैं। इन ७ तत्त्वों में से जीव का वर्णन चतुर्थ अध्याय तक हुआ था, यह पंचम अध्याय चल रहा है। इसमें अजीव तत्त्व का वर्णन है। अजीव पदार्थ कैसे-कैसे होते हैं यह बात यहां समझायी जा रही है। कहीं ऊल जलूल विषय नहीं आ रहा कि क्यों यह विषय रख दिया, उसका नम्बर है, क्रम प्राप्त है, सो इन अजीव पदार्थों के बारे में यह सब कथन चल रहा है।

जीव व पुद्गलों की सक्रियता व धर्म अधर्म, आकाश व काल द्रव्य की निष्क्रियता—इस पंचम

http://sahjanandvarnishastra.org/

घोड़ा है, कोई क्रिया नहीं हो रही, अब चलने लगा क्रिया हो गई। तो जब इनमें भेद है ऐसी समझ बनें तो ये जुदे ही हैं, पर यह शंका यों ठीक नहीं कि क्रिया क्रियावान से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती। कथञ्चित भेद है। जैसे अभी मनुष्य खड़ा, अब चल दिया। अगर एक ही होता तो ये दो रूप न बनते कि अभी खड़ा था, अभी चल दिया, पर भेद पूर्वक जाने नहीं जाते थे, इसलिये इनमें भेद न समझना और फिर सर्वथा एकान्तवाद तो कहीं भी नहीं है। दो पर्वत जुदे-जुदे पड़े हैं मगर सर्वथा भिन्न नहीं है वे। सत्त्व सामान्य से एक हैं, यह भी सत् है, वह भी सत् है। कहीं ऐसा नहीं है कि यह तो सत् है वह असत् है। लो सत् से अभेद तो रहा। तो मतलब यह है कि सर्वथा एकान्त के अभिप्राय में किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती।

अभिन्नैकदेश स्थितत्व हेतु से क्रिया को क्रियावान से सर्वथा अभिन्न मानने की एक आरेका— एक शंकाकार यह कह रहा है कि क्रिया से क्रियावान भिन्न नहीं है। तो सर्वथा अभिन्न ही मान लो, क्योंकि वहीं क्रिया है, वहीं पदार्थ है, हाथ चला तो वहीं पदार्थ है, वहीं क्रिया है तो उन्हें एक मान लीजिये। शंका किस बात की चल रही है? देखो—द्रव्य, गुण, पर्याय, इन तीन के बोध बिना तत्त्व-ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। जैसे आत्म द्रव्य है तो आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक गुण हैं। और, आत्मा में उन गुणों की अवस्थायें बनना, यह भाववान पर्याय है और एक देश से दूसरे देश में जाना, यह क्रियावान पर्याय है। तो इसी के बारे में शंका चल रही है कि गुण और क्रिया, गुण और पर्याय ये द्रव्य से अभिन्न हैं। उत्तर— सर्वथा अभिन्न भी नहीं, कथञ्चित् अभिन्न हैं, किन्तु वैशेषिक यह मानते हैं कि ये तीन चीजें बिल्कुल अलग अलग हैं। द्रव्य अलग पदार्थ है, गुण अलग पदार्थ है, कर्म अलग पदार्थ है, तो उस ही की यहाँ चर्चा चल रही। कोई कठिन या नया विषय नहीं है, जैसे रोज-रोज बोलते रहते हैं, द्रव्य, गुण, पर्याय, उस ही की यह चर्चा है। चर्चा यहाँ यह चल रही है कि पर्याय द्रव्य से अत्यन्त जुदी है या एकमेक है ऐसा कोई कोई मानते हैं, पर्याय दो किस्म की होती है—एक एक भाववान, दूसरी क्रियावान पर्याय। तो यह क्रिया पर्याय की बात चल रही है कि क्रिया क्रियावान पदार्थ से सर्वथा अभिन्न है। ऐसा एक नया शंकाकार कह रहा है, तो उसका हेतु दे रहे कि भिन्न देश में स्थित हैं। जहाँ हो क्रिया है वहाँ ही वे पदार्थ हैं।

लोकदृष्टि से क्रिया को क्रियावान से सर्वथा अभिन्न मानने की आरेका का समाधान—उक्त शंका का समाधान यह है कि यह जो हेतु दे रहे हो यह एक ही देश में है, एक ही प्रदेश में है, क्षेत्र में है इस कारण दोनों एक हैं। तो एक ही देश में रहते हैं यह आप लौकिक दृष्टि से कह रहे हैं या शास्त्रीय दृष्टि से? अगर लौकिक दृष्टि से कह रहे हो जैसे कि एक गिलास में शर्बत बनाया, पानी है, बूरा है, काली मिर्च है, इलायची है, कई चीजें डाली है उसमें तो यों कह दिया करते लोग कि वह एक चीज है, क्योंकि एक ही जगह है सब। मगर लोकदृष्टि से भी देखें तो भी एक जगह नहीं हैं वे सब। चाहे कितना ही घुल-मिल गई हों वे सब चीजें हैं गिलास में, मगर कालीमिर्च के अंश काली मिर्च में ही हैं, इलायची के अंश इलायची में ही हैं। वे इतने सूक्ष्म हो गये हैं कि जुदे एकदम नहीं मालूम पड़ते, मगर जुदे-जुदे जानने की मशीनें हैं, जीभ से भी चखकर जाना जा सकता। कि यह तो कालीमिर्च है, यह इलायची है, यह बूरा है वहाँ स्वादभेद है ना? एक तो शर्बत को पीकर भी उनमें भेद जाना जा सकता, दूसरे मशीनों द्वारा भी इनको अलग-अलग किया जा सकता।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

द्रव्य का सद्भाव जहाँ तक है वहाँ ही तक इसकी गति स्थिति है। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान में लेना कि जिस प्रकार की क्रिया संसारी जीवों में होती है उस तरह की नहीं होती क्रिया। कर्मों के प्रेरे ये संसारी जीव तिरछे चलते, नचते फिरते। विग्रह गति हो तो भी ये किन्हीं दिशाओं में चलते। पर मुक्त जीव केवल ऊर्द्ध गमन स्वभाव से ऊपर ही जाते हैं। अथवा यह समझना चाहिये कि फिर आगे क्रिया का निमित्त न होने से जाना भी नहीं जाता। क्रियावती शक्ति का अब वहाँ स्वभाव परिणमन हो रहा है, विभाव परिणमन नहीं है, सो जैसे पुद्गल की क्रिया में, शरीर के अंग की क्रिया में कारण-भूत यह आत्मा क्रियावान है, तो पुद्गल भी सक्रिय हुआ और जीव भी सक्रिय हुआ, और इसमें क्रिया स्वपर निमित्तक होती है, उत्पाद व्यय स्वपर निमित्तक होता है जैसे पदार्थ में अपनी योग्यता से और अन्य का निमित्त सन्निधान होने पर कर्म व उत्पाद व्यय हुआ करता है।

क्रिया और क्रियावान में सर्वथा भेदैकान्त की असिद्धि—यहाँ यह बात बतायी गई कि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य ये तीन तो निष्क्रिय हैं अस्तिकाय, काल द्रव्य भी निष्क्रिय हैं उसका वर्णन आगे होगा और जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य ये क्रियावान हैं, तो वैशेषिकों की शंका यह चल रही थी कि क्रिया पदार्थ से अलग वस्तु है। देखो किसी को अलग समझ में नहीं आ रहा कि हाथ अगर चला तो हाथ की क्रिया हाथ से अलग है। कोई मान सकता क्या यह बात? हाथ की क्रिया हाथ में ही है। तो बात तो ऐसी ही है कि जीव की क्रिया जीव में ही है। उस काल जोवमय है। मेरे जीव से निराली मेरी क्रिया नहीं है। पर विशेषवाद में तो जरा भी शब्द का फर्क हुआ तो भेद कर डालते। ऐसा उन्होंने व्रत ले रखा है। यह हाथ क्रिया कर रहा है तो ऐसा शब्द सुनकर यों लगेगा कि जैसे कोई कहता है कि यह बालक पेंसिल बना रहा है। तो बालक अलग है, पेंसिल अलग है ऐसे ही हाथ क्रिया कर रहा है तो हाथ अलग है, क्रिया अलग है। यों कुछ समझ भेद से क्रिया को क्रियावान से अलग बताते हैं। लेकिन क्रिया से क्रियावान अलग है ऐसा किसी की समझ में नहीं आता। अगर क्रियावान अलग है, क्रिया अलग है, क्रिया करने वाला हाथ अलग है और क्रिया अलग है तो अब न क्रिया कुछ रही न हाथ कुछ रहा, पदार्थ यह निष्क्रिय हो गया। जैसे अग्नि में उष्णता यह अलग है क्या? इसे भी वैशेषिक लोग अलग मानते हैं। उनका कहना है कि गर्मी के सम्बन्ध से अग्नि गर्म हुई। अगर गर्मी अलग है और अग्नि अलग है तो गर्मी तो दूर है, अग्नि दूर है, तो अग्नि तो गर्मी बिना रह गई ना? तो फिर अग्नि क्या? और गर्मी अग्नि बिना रह गई अथवा दोनों ही न रहे, अग्नि बिना गर्मी कैसे रहे, गर्मी बिना अग्नि कैसे रहे? ऐसी ही क्रिया की बात है। क्रिया बिना क्रियावान पदार्थ क्या कहलायेंगे और क्रियावान बिना क्रिया क्या कहलायेगी? इस प्रकार के व्यापार के होते हुये पदार्थ में यह व्यवहार देखा जाता है।

किसी भी युक्ति से क्रिया व क्रियावान में सर्वथा भेद की सिद्धि की अशक्यता—कुछ यहाँ वैशेषिक लोग, अन्य मतावलम्बी भेद सिद्ध करने को कहते हैं कि क्रिया और क्रिया का आश्रयभूत पदार्थ ये दोनों भिन्न हैं, क्योंकि इनका भिन्न-भिन्न रूप से ज्ञान हुआ ना? क्रिया, क्रिया कहलाती है, पदार्थ, पदार्थ कहलाता है। जैसे दो पर्वत दूर-दूर हों तो उनका भेद रूप से ज्ञान हुआ ना? जैसे हिमा-लय पर्वत या विन्ध्याचल पर्वत दो अलग-अलग हैं तो अलग अलग ही हैं, इसकी अलग समझ बनती है। तो ऐसे ही क्रिया और पदार्थ इनकी समझ जुड़ी बनती है। ज्ञान में तो आ रहा कि क्रिया, क्रिया कहलाती, पदार्थ, पदार्थ कहलाता। अगर ये एक होते तो सदा क्रिया चलती जैसे घोड़ा में

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और रागादिक विकार सो निरन्तर उदय में आते ही रहते, पर कोई समझ में ही नहीं आ पाया, क्योंकि लगा था उपयोग दूसरी ओर। सम्यग्दृष्टि के लिये जब वह स्वानुभव में है तो उपयोग तो सहज शुद्ध आत्मस्वरूप में लगा है, कर्मोदय तो निरन्तर चल रहा है और उनका प्रतिफलन भी निरन्तर हो रहा है। तो वहाँ हो गया अव्यक्त विकार। तो अव्यक्त विकार में तो दो कारण हैं—(१) उपादान कारण और, (२) निमित्त कारण, किन्तु व्यक्त विकार में तीन कारण होते हैं—(१) उपादान कारण, (२) निमित्त कारण और, (३) आश्रयभूत कारण। किसी भी इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ पर उपयोग लग रहा हो तब वह विकार व्यक्त होता है, नहीं तो उसकी क्या मुद्रा ? कुछ उसका रूपक नहीं बन पाता। ऐसा यह विकार परिणमन निमित्त सन्निधान में हुआ करता है। वहाँ भी यह ही बुद्धि रखना कि निमित्त के सन्निधान में तो हुये विकार अगर निमित्त की परिणति से उपादान में विकार नहीं हुये।

प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त—निमित्त के दो प्रकार बनते—(१) प्रेरक निमित्त, (२) उदासीन निमित्त। जो अनुरूप व्यापार कर रहा है वह तो है प्रेरक निमित्त और जो व्यापार नहीं कर रहा किन्तु उपस्थित है वह है उदासीन निमित्त। जैसे घड़ा बनाया कुम्हार ने। लोक वचन ऐसे ही कहे जाते हैं। सो कहते ना। कुम्हार निमित्त कारण है घड़ा बनने का। और यदि कुम्हार चाक के पास बैठा है, लेटा है, आराम कर रहा है तो वह कुम्हार निमित्त बनता क्या ? नहीं बनता। घड़ा भी नहीं बन रहा। बैठा है, जैसे गधा या लड़के बच्चे जैसे वहाँ खेलते हैं वैसे ही कुम्हार भी बैठा है तो कुम्हार यदि उदासीन है तो घड़ा क्यों नहीं बन रहा ? तब यह ही तो कहा जायेगा कि जिस प्रकार घड़ा बन सकता है उस प्रकार का व्यापार करता हुआ कुम्हार, हाथ चलाता हुआ कुम्हार हो तो वह निमित्त कारण है, तब इसका अर्थ क्या हुआ कि प्रेरक निमित्त कारण है। जैसे प्रकाश हो रहा है इस समय सूर्य के सान्निध्य में तो सूर्य तो जमीन पर प्रकाश होने का निमित्त कारण है पर क्या वह प्रेरक कारण है या उदासीन कारण है ? वह उदासीन कारण है। उपस्थित भर है और प्रकाश हो रहा है। सूर्य कुछ ऐसा व्यापार नहीं कर रहा है कि इस जीव के भीतर अपनी कुछ चेष्टा करके प्रकाश करूं। वह तो केवल उपस्थित मात्र है। जो कोई व्यापार नहीं कर रहे, ऐसा निमित्त तो कहलाता है उदासीन और जो व्यापार करते हुये हो, जिस व्यापार सम्पन्नता के होने पर विचार भाव होता हो जीव में या पुद्गल में वह कहलाता है प्रेरक निमित्त।

क्रियावती शक्तिमान पदार्थों में ही क्रिया की संभवता—यह प्रकरण चल रहा है कि आत्मा क्रियावान है। यदि यह क्रियावान न होता तो शरीरादि के अंगों में क्रिया न हो सकती थी, क्योंकि सक्रियता का निमित्त कारण सक्रिय होता है। इस प्रकरण में एक शंका हो रही है कि आत्मा को सक्रिय सिद्ध कर दिया। जीव क्रियावान है, और सिद्धान्त भी यह बताता है कि जीव में क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति दोनों ही हैं, ऐसे ही पुद्गल में भी क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति दोनों ही हैं। शेष द्रव्यों में सिर्फ भाववती शक्ति है, क्रियावती नहीं। जिसमें क्रियावती शक्ति नहीं वह निष्क्रिय है। जिसमें क्रियावती शक्ति है वह कभी निष्क्रिय होता कभी सक्रिय होता। खैर जब यह शक्ति सिद्ध कर दिया तो एक शंका हुई कि जीव अगर सक्रिय है तो मोक्ष होने पर भी जीव को सक्रिय रहना चाहिये, चलते रहना चाहिये। उसका उत्तर यह है कि यह बात तो इष्ट ही है—जीव अष्ट कर्मों से मुक्त होने पर ऊर्द्ध्वगमन स्वभाव से ऊपर जाता है, अब यह बात अन्य है कि धर्म-अधर्म

http://www.jainkosh.org

हो, किसी भी निमित्त कारण का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी उपादान में नहीं जाता, यह पक्की बात है। मगर उससे बहुत तथ्य ज्ञान होगा कि प्रेरक निमित्त किस वातावरण में होता है ? केवल एक यह दृष्टि बनाकर कि किसी भी निमित्त कारण का गुण पर्याय उपादान में होता है और उदासीन निमित्त किस कारण में कभी भी नहीं पहुँचता और यह बात सत्य है, लेकिन इस आधार पर सभी कारणों को एक समान उदासीन कहना यह ठीक नहीं बैठता, अन्यथा आप कार्य भेद की दृष्टि में नहीं कर सकते। तो काल द्रव्य क्रिया रूप से परिणमने वाले पदार्थों का स्वयं निमित्त मात्र है, उदासीन निमित्त है। जैसे बुड्ढे के चलने में लाठी उदासीन निमित्त है और क्यों जी। बुड्ढे को एक लड़का पकड़कर ले जाये और उस बुड्ढे को एक लाठी मिली चलने के लिये तो इन दो निमित्तों में निमित्त की दृष्टि से अन्तर है कि नहीं ? ...है। एक उदासीन है और एक प्रेरक। और यद्यपि न उदासीन का कुछ उपादान में गया और न कुछ प्रेरक का उपादान में गया। यहाँ बात एक समान है। फिर से देखें तो सही, सक्रिय पदार्थ अन्य पदार्थ की क्रिया का हेतु होता है और निष्क्रिय लाठी बुड्ढे की क्रिया का कारण नहीं बना किन्तु बुड्ढे के चलने में उदासीन निमित्त रहा। इस बात को आगे के प्रसंग में कहेंगे।

निमित्त के सान्निध्य में ही विकारभाव की उपपत्ति—पदार्थों के जितने भी स्वभाव परिणमन होते हैं उनमें निमित्त केवल काल द्रव्य है और वह कहलाता है उदासीन निमित्त, क्योंकि काल द्रव्य सक्रिय नहीं है। विभाव परिणमन केवल जीव और पुद्‌गल में होता है। सो जितने विभाव परिणमन होते हैं उनमें काल द्रव्य तो सबका उदासीन निमित्त कारण है ही, पर वहाँ उपादान कारण के साथ और भी कोई विशेष निमित्त कारण है। यदि विभाव परिणमन, विकार भाव निमित्त के न होने पर भी हो जाये तो वह स्वभाव परिणमन कहलायेगा, और जो स्वभाव परिणमन होता है उसकी धारा कभी मिटती नहीं है, सदा विकार होता रहेगा। तो यह आवश्यक है कि विकार परिणमन निमित्त के सन्निधान में ही होता है। अब उन विकार परिणमनों में जो पुद्‌गल में विकार परिणमन हैं उनमें तो उपादान व निमित्त कारण है और जीव में जो विकार परिणमन है सो वे विकार परिणमन दो प्रकार के हैं—(१) व्यक्त विकार, (२) अव्यक्त विकार। व्यक्त विकार होने में उपादान, निमित्त व आश्रयभूत ३ कारण हैं, अव्यक्त विकार में उपादान व निमित्त दो कारण हैं।

व्यक्त और अव्यक्त विकार तथा उनके कारणों का संक्षिप्त दिग्दर्शन—व्यक्त विकार उसे कहते हैं जो बुद्धि में आये, जिसका अनुभव बने, महसूस हो वह है व्यक्त विकार। और अव्यक्त विकार वह कहलाता है जो बुद्धि में न आये किन्तु इस उपयोग पर्दे पर पड़ जरूर गया है। इस आत्म-भूमि पर पुद्‌गल कर्मोदय का प्रतिफलन हो गया, पर बुद्धि में नहीं आ पाता, वह कहलाता है अव्यक्त विकार। व्यक्त विकार के लिये तो कुछ दृष्टान्त देना ही नहीं है, सब लोग समझते हैं कि यह व्यक्त विकार है, इसमें महसूस होता, पीड़ा होती, हर्ष होता, बुद्धि में आता, वह सब व्यक्त विकार है। अव्यक्त विकार—जैसे श्रेणी में रहने वाले मुनियों के रागादिक विकार आते हैं। रागादिक विकार ९वें गुणस्थान तक चलते हैं, १०वें में सूक्ष्म राग है, पर वह सब अव्यक्त है। वह तो शुक्ल ध्यान में है, शुक्ल ध्यान कहते ही उसे हैं कि जहाँ राग न हो या महसूस न हो जहाँ द्वेष न हो या द्वेष महसूस न हो अनुभूति हो वही तो शुक्ल ध्यान है। तो बुद्धि में नहीं है राग द्वेष इस कारण उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। उस श्रेणी में रहने वाले मुनियों के अव्यक्त विकार हैं। अप्रमत्त दशा में अव्यक्त विकार हैं, प्रमत्त दशा में भी किसी का गुणस्थान में नीचे उपयोग उसका लग रहा हो दूसरी ओर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दूसरे से तार फंसे हुये होते, उसमें एक छल्ला देना पड़ता, उनको छू कर जरा भी उलझा दिया तो उनका सुलझाना अत्यन्त कठिन होता है, ऐसा ही अत्यन्त कठिन होता है द्रव्यानुयोग उनके लिये जो कि ज्ञान स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाये। जिन्होंने ज्ञान स्वरूप का अनुभव कर लिया उनके लिये यह द्रव्यानुयोग अत्यन्त सरल है। एक सेकेण्ड के लाखवें हिस्से में वह परमात्मतत्त्व के दर्शन कर सकता है और सत्य सहज आनन्द का अनुभव कर सकता है। पर यह बात जब न बन रही हो या हर समय नहीं बनती है तो शेष समयों में द्रव्य के स्वरूप का ज्ञान कीजिये

विशेष तत्त्व बोध के बीच दर्शन ज्ञान सामान्यात्मक अन्तस्तत्त्व के दर्शन से सहजानन्दलाभ— भैया देखने-देखने में फर्क होता है। जैसे कोई दूर देश का पुरुष एक दिन में आपके इस मेरठ शहर को घूम कर देख सकता है एक तो उसका देखना और एक यहां के स्थानीय पुरुष का देखना जिसका कि अनेकों लोगों से परिचय है, जिसका रोज-रोज सारे शहर में आना-जाना रहता है बताओ, इन दोनों प्रकार के लोगों के ज्ञान में कुछ फर्क है कि नहीं ? ·· हाँ है फर्क। अरे दोनों की जानकारी में दृढ़ता का फर्क है, ऐसे ही एक व्यक्ति तो द्रव्य के स्वरूप सामान्य को सुन-सुनकर निर्णय बनाता है कि जीव न्यारा पुद्गल न्यारा, ज्ञान मेरा स्वरूप आदिक कुछ बातें सुन लिया और एक व्यक्ति ऐसा जो कि न्याय, युक्ति, तर्क और हेतुओं से सही-सही जानकारी कर द्रव्य के स्वरूप का अवधारण करता है. एक वह है दृढ़ निर्णय करने वाला। आत्मा क्या है, कैसा है, उसमें कैसी शक्तियां हैं, क्या प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्यों होती हैं इन सबका उत्तरोत्तर विशेष परिचय होने से वस्तु का स्वरूप बहुत स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि जीव क्रियावान है क्योंकि अन्य द्रव्यों में क्रिया का कारण बनता है। बहुत काम करने के बाद जैसे आप एक क्षण को कार्य की निष्पत्ति होने पर संतोष की श्वास लेकर बैठते हैं और आराम अनुभव करते हैं ऐसे ही द्रव्य का सूक्ष्मतया परीक्षण का काम करने के बाद लक्ष्यभूत अन्तस्तत्त्व की दृष्टि होने पर यह भव्य पुरुष एक क्षण सहज आराम करता है।

जीव के क्रियावत्त्व की सिद्धि— यहाँ यह बतलाया जा रहा था कि जीव क्रियावान है क्योंकि वह शरीरादिक की क्रिया का कारण बनता है। बताओ हाथ यहाँ से उठाकर यहाँ कैसे पहुँचा ? आत्मा ने किया ज्ञान कि हाथ यहाँ धरना और इच्छा की तो ज्ञान और इच्छा होने पर आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंद हुआ और उस प्रयत्न का निमित्त पाकर एक क्षेत्रावगाह में रहने वाले शरीर में वायु चली, जिसका वात, पित्त, कफ में नाम कहते हैं। और उस वायु के चलने का निमित्त पाकर यह हाथ चल उठा। तो मूल में तो वह आत्मा का प्रयत्न कारण पड़ा। आत्म प्रदेश परिस्पंद हुये बिना शरीर में परिस्पंद नहीं हो सकता और क्रियावान आत्मा हुआ ना, क्योंकि वह अन्य द्रव्य में क्रिया का कारण पड़ता है, तो एक जिज्ञासु कह उठा कि तुम्हारा हेतु शुद्ध नहीं है, क्योंकि काल द्रव्य ऐसा है कि अन्य द्रव्यों की क्रिया का कारण है और फिर भी क्रियावान नहीं है काल द्रव्य। तो जो यह कह रहे हो कि अन्य द्रव्य में जो क्रिया का कारण हो वह सक्रिय होता है। जैसे जीव पुद्गल, मगर काल द्रव्य तो अन्य पदार्थों की क्रिया में कारण है और काल सक्रिय नहीं है, इनका उत्तर बहुत काम का है। उत्तर यह आयेगा कि क्रिया के कारणभूत या किसी विकार के कारणभूत दो प्रकार के पदार्थ होते हैं—एक प्रेरक और एक उदासीन। यह प्रसंग आगे आप सुनेंगे। काल द्रव्य को बताया है कि यह उदासीन कारण है। प्रेरक कारण जितने भी होंगे वे क्रियावान होंगे।

प्रेरक और उदासीन निमित्त की स्थिति— यद्यपि चाहे प्रेरक कारण हो चाहे उदासीन कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाती है कि जो कहना चाहिये सो कह नहीं पाये और जो न कहना चाहिये उस पर जोर डाल दिया। क्या कहना चाहिये था उन्हें ? द्रव्य ६ हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, द्रव्य के भेद किया—वैशेषिकोंने, उनमें कुछ छूट गये कुछ पुनरुक्त आये हैं। तो यह है सिद्धान्त, जीव एक द्रव्य है, वह जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मिलने पर एक देश से दूसरे देश में पहुँच जाता है। जीव क्रियावान है और इस सम्बन्ध में ये विशेषवादी यह कहते हैं कि आत्मा निष्क्रिय है। जीव में क्रिया नहीं होती। पर जीवों में प्रयत्न का संयोग होता है तब हाथ पैर आदिक की क्रिया का वह प्रयत्न कारण बनता है, जीव कारण नहीं बनता।

क्रिया (कर्म) परिचय सम्बन्धित प्रकरण– यहाँ सूत्र बतलाया जा रहा है निष्क्रियाणि च। प्रत्येक दस लक्षण पर्व में मोक्ष शास्त्र प्राय बचता है, उसमें एक या डेढ़ घण्टे का समय लगता है, जिसमें एक अध्याय पूरा करना पड़ता है और उसमें भी साधारण रूप से भी अर्थ समझ में आया या नहीं, इसका कोई निर्णय नहीं रखा। आचार्य महाराज के तत्त्व विज्ञान को देखो, एक ही बात में कितने भेद कर-करके उसको निखार रहे हैं, जब यह सुना गया कि धर्म-अधर्म, आकाश ये निष्क्रिय हैं और इनके अलावा जीव और पुद्गल सक्रिय हैं। काल द्रव्य आगे कहा जायेगा। वह भी निष्क्रिय हैं। तो यहाँ कोई पूछता है कि पुद्गल को तो कह दो कि क्रियावान हैं, यह तो हम मान लेंगे झट, परन्तु जीव में क्रिया न होती है यह नहीं समझ सकते, क्योंकि जीव चलता हुआ कहाँ नजर आता ? पुद्गल में तो क्रिया होती है। ढेला उठाकर रख दिया, हाथ भी चला लिया मगर जीव में क्रिया कैसे हुई ? कैसे समझें कि जीव क्रिया करता है ? उसका उत्तर यह है कि यदि जीव क्रिया न करता होता तो शरीर में भी क्रिया न हो सकती थी। शरीर में क्रिया होने का कारण है जीव की सक्रियता। इससे यों अनुमान बनाइयेगा कि आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि अन्य द्रव्यों में क्रिया होने का कारण है। यों जीव शक्ति है।

तत्त्व ज्ञान के आधिक्य से तत्त्व बोध की अधिक स्पष्टता—आप सोचते होंगे कि इन बातों के कहने से कौन सा हमारा काम बनेगा ? फालतू बात क्यों कही जा रही है ? अच्छा तो जिन बातों से काम बने जरा वही करके दिखा दो। जो आत्मतत्त्व की कथनी है सो बोलते जायेंगे घण्टे दो घण्टे और रोज बोलेंगे, पर रोज का बोलना, वैसा ही बोलना, वह एक आदत बन जाती है, और जब सर्वज्ञ के शासन में कहे हुये करणानुयोग, चरणानुयोग, प्रथमानुयोग के तत्त्व का भी अध्ययन साथ चलता हो तो एक ऐसा उत्साह बनता है और एक ऐसी नवीनता आती है कि अध्यात्म चर्चा में उसको फिर आनन्द आने लगता है। इससे जो केवल दो ही बातों की कथनी में अपना पूरा जीवन लगाकर और समझ लें कि हमने सब कुछ पाया उनमें वह उमंग नहीं आ पाती आत्मानुभव करने के लिये। फिर अनभ्यस्त पुरुष को क्या करना चाहिये ? भोजन में आप क्या करते हैं ? कभी यह खाया, कभी वह खाया, तो आप ज्ञान की दिशा में भी क्या करें ? कुछ करणानुयोग की बात भी जानें। यह प्रकरण चल रहा है द्रव्यानुयोग का। आप कहेंगे कि कठिन तो लग रहा, फिर द्रव्यानुयोग कैसे ? द्रव्यानुयोग तो बड़ा सरल हुआ करता है कि जीव न्यारा पुद्गल न्यारा। और यह ही बात चाहे कितने ही लोगों से बुलवा लीजिये, सब हां-हाँ कहते चले जायेंगे कि द्रव्यानुयोग तो बड़ा सरल होता हैं। अरे भैया, द्रव्यानुयोग उनको अत्यन्त सरल है जिन्होंने आत्मा के सहज ज्ञान स्वरूप का ज्ञान द्वारा अनुभव कर लिया. बाकी के लिये तो गोरख धन्धा है। जैसे गोरख धन्धे में क्या होता कि एक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञान में आना ही पड़ेगा, ऐसा भीतर का उत्साह हो, श्रद्धा हो। जब हम ज्ञानस्वरूप पदार्थ हैं तो हमारे ज्ञान से दूर कैसे हो जायेगा? सब ज्ञान में आयेगा। जो ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व की आस्था रखते हैं वे उससे इतना ज्ञानबल पाते हैं कि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है, और ज्ञान बढ़ता है। और इस ही ज्ञानस्वरूप आत्मा की दृष्टि के प्रताप से केवलज्ञान होता है। ज्ञानावरण का पूर्ण क्षय होता है और ३ लोक ३ कालवर्ती समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में आ जाते हैं। तो द्रव्य के सम्बन्ध में पदार्थ के सम्बन्ध में भेदवादियों का क्या सिद्धान्त है वह थोड़ा सा सुनो—"वैशेषिकवाद में मानते हैं ६ भावात्मकपदार्थ और एक अभावात्मक पदार्थ। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये ६ तो भावात्मक हैं। अभाव पदार्थ सो अभावात्मक है ही। यहाँ ऐसी भेदवाद की दृष्टि हुई, जिससे यह जाहिर किया कि द्रव्य अलग पदार्थ है। गुण अलग पदार्थ है। द्रव्य से गुण; गुण से द्रव्य न्यारा नहीं है। जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर इन वैशेषिकों के यहां आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है, आत्मा अलग है, ज्ञान अलग है। ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी कहलाता है। इसे कहते हैं भेदवाद याने भेद को भी करना, कुछ भेद की ऐसी धुन करना कि थोड़ा भी वचन का भेद हो तो भी भेद कर देना। तो इस सिद्धांत में द्रव्य निराला है, गुण निराले हैं, कर्म निराला है, कर्म मायने क्रिया। सो द्रव्य गुण कर्म ये ३ तो मुख्य सत् हैं, और उपचार से सत् तीन और हैं। सामान्य, विशेष, समवाय। जैसे कहते ना कि आत्मा आत्मा सब एक समान हैं। यह किस बात से पहिचाना? सामान्य स्वरूप से पहिचाना। तो इनका कहना है कि वह सामान्य भी एक अलग पदार्थ है यह मनुष्य पशु से भिन्न है। तो उनका कहना है कि वह भिन्नता भी एक अलग पदार्थ है, और जब ये सब अलग-अलग पदार्थ हो गये तो अलग अलग ही रहें तब तो कुछ भी काम न चलेगा। तो इनको इकट्ठा भी तो करना पड़ेगा। तो यह कहते हैं कि द्रव्य और द्रव्य में तो संयोग से इकट्ठापन होता और बाकी तो सब में समवाय से एक होता है। दो का सम्बन्ध माने, जैसे पृथ्वी और जल इनका तो संयोग होगा। और, पृथ्वी में रूप इनका समवाय होगा। उनसे कोई पूछ कि जब ये अलग-अलग हैं सब तो किन्हीं में संयोग कहना और किन्हीं में समवाय कहना यह अन्तर कैसे? तो वे विवश होकर यह उत्तर देंगे कि क्या बतायें? द्रव्य से गुण निराला करने में दिखने में नहीं आता, अलग क्षेत्र में नहीं हैं। इस कारण हम उन्हें समवाय से लेते हैं और जो भिन्न-भिन्न जगह में हैं उन्हें हम संयोग से लेते हैं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने ६ पदार्थ यों माने।

भेदवाद में पदार्थ संख्या का पूर्वपक्ष—अब जरा स्याद्वाद दर्शन से वैशेषिकोक्त पदार्थों का मिलान करें तो देखो ये ६ कहते तो हैं, मगर ये ६, ६ नहीं हैं किन्तु एक द्रव्य है न गुण है, न कर्म है, न सामान्य है, न विशेष है, न समवाय है। ये कोई पृथक नहीं हैं, किन्तु द्रव्य में द्रव्य की जो खासियत है वह गुण है। उस द्रव्य को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाते हैं सो द्रव्य की यह पर्याय क्रिया है। कुछ मिलते हुये धर्म देख करके कह दिया कि यह सामान्य है। सामान्य भी द्रव्य का पर्याय हुआ। फिर एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में कुछ धर्म मिलते नहीं दिखे तो कहते कि यह विशेष है। तो यह विशेष भी द्रव्य का पर्याय हुआ। आत्मा में क्रोध आया तो आत्मा में क्रोध का समवाय है मगर समय बीतते ही क्रोध अलग हो गया। तो लो क्रोध का समवाय भी अलग हो गया। यों समवाय भी द्रव्य का ही परिणाम है। एक ही चीज है द्रव्य, सो कभी किसी की एक ऐसी विचित्र धुन हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

के गोले में वर्तमान है, उसका सम्पर्क तृण आदिक की क्रियाओं का कारण बन जाता है। जैसे गोला वजनदार है, स्वयं निष्क्रिय है और वह कोई नीची जमीन को पाकर ही सरके या कोई बलवान पुरुष सरकाये, तो जहां से गया वहां के सम्पर्क में आये तृण आदिक में भी क्रिया हो गई। ऐसे ही आत्मा, संयोग और प्रयत्न ये निष्क्रिय होकर भी हस्तादिक अंगों में क्रिया के कारण हो जाते हैं, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। यह तो अग्नि संयोग के दृष्टांत के समान हो गया। कैसे कि क्रिया परिणमन करने वाला है वह लोहे का गोला और उसका गुण है गुरुत्व। वह दूसरे की क्रियाओं का कारण बन जाता है ऐसे ही आत्मा के संयोग और प्रयत्न ये भी क्रियारूप परिणमने वाले आत्मद्रव्य के गुण हैं। इसमें भी आत्मा का सक्रियपना सिद्ध होता है। खाली गुरुत्व को देखा तो वह निष्क्रिय है। स्पर्श भी नहीं कर सकता, प्रेरक भी नहीं, ठोकर देने वाला भी नहीं अर्थात गुरुत्व गुण क्रिया का कारक नहीं बन पाता, तब यह समझना चाहिये कि क्रिया रूप से परिणमने वाला द्रव्य ही क्रिया का हेतुभूत है।

निष्क्रिय अस्तिकायों के निर्देश का प्रकरण—यह मोक्ष शास्त्र का पञ्चम अध्याय चल रहा है। पञ्चम अध्याय में पहला सूत्र था—**अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ ५-१ ॥**

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और पुद्गल द्रव्य ये अजीव होते हुए अस्तिकाय हैं अर्थात अजीव भी हैं और अस्तिकाय भी हैं। इसके बाद बताया गया है कि ये द्रव्य हैं, फिर बताया गया जीव भी द्रव्य है। फिर उनकी विशेषता बता-बताकर इस निष्क्रियाणि सूत्र में यह बात कह रहे हैं कि वे सब निष्क्रिय हैं। इससे पहले सूत्र आया था—'आ आकाशादेक द्रव्याणि'। आकाश पर्यंत यह एक-एक द्रव्य है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य एक-एक ही हैं। इनकी संख्या अनेक नहीं है। और ये तीनों निष्क्रिय हैं, इनमें क्रिया नहीं है। सिद्धांत की बात यह है कि जीव और पुद्गल इनमें तो क्रिया होती है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमें क्रिया नहीं होती। तो सूत्र ग्रन्थ में सूत्रों की पद्धति केअनुसार वर्णन चलता है। यहाँ बतला रहे हैं कि ये निष्क्रिय द्रव्य हैं और इससे यह सिद्ध हुआ कि ये ३ तो निष्क्रिय हैं किंतु जीव और पुद्गल ये सक्रिय हैं। इनमें क्रिया होती है। एक देश से दूसरे देश में पहुँचना इसका नाम है क्रिया। परिणमन तो सबमें होता है। चाहे क्रिया वाला हो चाहे बे क्रिया का हो। जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना इसका नाम क्रिया है। तो इस क्रिया में परिणमन हुआ या नहीं ? हुआ है। और एक स्थान पर ही रहे दूसरे स्थान पर न पहुँचे मगर उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ होते। रूप रंग बदल रहे या धर्म अधर्म आकाश के परिणमन चल रहे तो भी परिणमन है या नहीं ? है पर क्रिया नहीं है। तो जीव और पुद्गल इनमें क्रिया है, बाकी किसी द्रव्य में क्रिया नहीं है। यह एक सिद्धांत है।

क्रिया के परिचय के सम्बन्ध में शंका समाधान की प्रस्तावना—अब क्रिया कैसे होती है इस सम्बन्ध में कुछ विवाद चल रहा है। तो उसी से सम्बन्धित कुछ बात बतलाते हैं ताकि विषय अच्छी तरह समझ में आयेगा। विषय कठिन है। उपयोग आपका ऐसा बन जाये कि यह तो कठिन विषय है, क्या सुनना ?उपयोग को ढीला कर दिया तो कुछ समझ में नहीं आता, पर यह ध्यान में रख कर सुनें कि हम भी तो ज्ञानस्वरूप पदार्थ हैं। जिसका जानना काम है, क्यों न ज्ञान में आयेगा ?

कारण नहीं बन सकता है। उसके लिए आकाश का दृष्टान्त रख लीजिये। आकाश क्रिया रूप परिणत नहीं हो सकता तो वह आकाश, मिट्टी, घट, पट आदिक पदार्थों में संयुक्त है तो वह क्रिया का कारण नहीं बन पाता। उसी तरह यहाँ परखिये कि आत्मा को यदि निष्क्रिय मान लिया जाये तो आत्मा का शरीर के साथ संयोग होने पर भी हाथ आदि अंगों में वह आत्मा क्रिया का कारण नहीं हो सकता। और भी देखिये जो यह बतला रहे हैं शंकाकार कि आत्माके क्रिया हेतुभूत प्रयत्न गुण का संयोग होने पर क्रिया बनती है तो यह बतलायें शंकाकार कि आत्मा को तो निष्क्रिय कहते ही हैं और जो संयोग हुआ है वह संयोग सक्रिय है या निष्क्रिय ? सक्रिय तो होता नहीं, क्योंकि वह द्रव्य नहीं हैं तो निष्क्रिय ही कहना पड़ेगा। तो संयोग निष्क्रिय, प्रयत्न निष्क्रिय तो इस निष्क्रिय के होने पर भी अर्थात् आत्मा संयोग प्रयत्न इन तीन निष्क्रिय का जमघट होने पर भी क्रिया बन ही न सकेगी।

अग्निसंयोग के दृष्टांत से संयोग को क्रियाहेतु बताकर आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय बताने की विफल चेष्टा—अब शंकाकार तर्क करता है कि जैसे अग्नि के संयोग से घट आदिक पदार्थों में रूप से रूपांतर बन जाता है तो वह केवल अग्नि से नहीं बन जाता किंतु संयोग से बनता है। सो ऐसे ही आत्मा में संयोग और प्रयत्न इनका सम्बन्ध होने से हाथ आदिक में क्रिया बन जाती है। हां आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती, और वह संयोग प्रयत्न आत्मा के अदृष्ट के अनुसार होता है। इस शंका के उत्तर में तथ्य अनुरूप भरा है, इस कथन में तो हमारे इष्ट की सिद्धि होती है। किस प्रकार? जैसे कि अग्नि का संयोग रूपादिमान्द्रव्य का गुण है सो अन्य घट आदिक में जोकि स्वयं रूपादिमान हैं उनमें अन्य-अन्य रूपादिकों की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। तो अग्नि के संयोग से घट में एक रूप से दूसरा रूप जो बना सो यह तब ही तो बना कि अग्नि भी रूपादिमान, घट भी रूपादिमान। तो उनके संयोग से अन्य रूप की उत्पत्ति हो गई। तब ऐसे ही यहाँ समझ लीजिये कि आत्मा भी क्रियावान और संयोग प्रयत्न भी हस्तादिक क्रियाओं के करने वाले क्रियावान हैं। इसलिए क्रिया होती रहती है। तो आत्मा निष्क्रिय नहीं है। हाँ स्वभाव में तो निष्क्रिय है। स्वयं अपने आप अकेला ही रहे तो निष्क्रिय है। भले ही जब इसका मोक्ष होता है तब ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक समय को लोक पर्यन्त गति होती है, सो वह उस काल का प्रभाव है कि जैसे छिलके में बँधा हुआ एरन्ड का बीज बंधन में रहने से वहीं पेड़ पर चिपका रहता था और बन्धन के खुलने से वह बीज ऊपर उछलता है तो ऐसे ही कर्म बन्धन में रहने पर जीव संसार में ही भ्रमण करता रहता है। कर्मबन्ध बिल्कुल छूट जाने पर जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव से ऊपर चला जाता है। यह उस एक समय का वियोगजन्य प्रभाव है। पर वहाँ तो आत्मा के स्वभाव से क्रिया नहीं पड़ी है। हाँ अन्तरंग, बहिरंग निमित्त-सापेक्ष क्रिया हो जाती है। सो आत्मा का क्रियावानपना होना यह आश्रव है। यहाँ जो अग्नि संयोग का दृष्टांत कहा गया है सो उस संयोग का सामर्थ्य नहीं है यह, क्योंकि संयोग न उष्ण है, न शीत है, न प्रेरक है, न निरोध या उपघात करने वाला है। न चिपकने वाला है। उस संयोग को अन्य रूप के उत्पाद विनाश का कारण नहीं कह सकते। तो यहां प्रकृत बात के विरोध करने में शंकाकार ने जो दृष्टांत दिया है वह उचित नहीं बन रहा।

गुरुत्व दृष्टांत से निष्क्रियों में क्रिया हेतुत्व बताकर आत्मा को निष्क्रिय प्रसिद्ध करने की विफल चेष्टा—यहाँ कोई यह कहे कि जैसे वजनदार होना यह गुण निष्क्रिय है और ऐसा गुरुत्व लोहे

http://www.jainkosh.org

मात्र हैं। उनके द्वार से कोई पुरुष अपनी सामर्थ्य से बाहर देख ले तो देख ले। तो जैसे देखना आदिक आत्मा का ही सामर्थ्य है और इन्द्रियाँ बलाधान मात्र है ऐसे ही स्वयं ही गति, स्थिति, अवगाहना पर्याय रूप से परिणमने वाले जीव और पुद्गल का धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य गति आदिक की रचना में बलाधान मात्र है। परिणमता वह द्रव्य स्वयं है। जीव पुद्गल ये धर्म, अधर्म आदिक स्वयं क्रिया रूप से नहीं परिणमते। तात्पर्य यह हुआ कि न चलता हुआ धर्म जीव पुद्गल के चलने में निमित्त कारण है, ऐसे ही अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य अपना कोई व्यापार न करते हुये भी, क्रिया न करते हुये भी पदार्थों की स्थिति और अवगाहना में निमित्त मात्र हैं। कैसे समझा जाये ? तो उसका उत्तर है कि द्रव्य की सामर्थ्य से यह बात समझी गई। जैसे आकाश न चलता हुआ सर्व द्रव्यों के साथ सम्बद्ध है। आकाश कहीं किसी द्रव्य के पास जाकर उसको अपने में छिपाता हो ऐसा नहीं है। तो जीव पुद्गल आदिक अवगाही हो जायें, उनकी अवगाहना बन जाये तो अवगाहना परिणमन में सामर्थ्य आकाश का ही है, अन्य का नहीं है, ऐसे ही धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य निष्क्रिय है तो भी यह अन्य द्रव्यों की गति, स्थिति आदिक क्रिया की रचना के प्रति बलाधान मात्र है। तो वह नियत-नियत होने से असाधारण समझना चाहिये।

तीन अस्तिकायों की निष्क्रियता के कथन से शेष दो अस्तिकायों के क्रियावन्त्व की सिद्धि—निष्क्रियाणि च। इस सूत्र में च शब्द के देने से अधिकार प्राप्त उन तीन का संकेत हो जाता है। वे तीनों एक-एक द्रव्य हैं और निष्क्रिय हैं। धर्मद्रव्य लोकाकाश में है, असंख्यात प्रदेशी है, वह एक द्रव्य है, अधर्मद्रव्य भी ऐसा ही है, आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है और एक द्रव्य है। वे सब तीनों एक-एक द्रव्य निष्क्रिय हैं, ऐसा कहने से यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि जीव और पुद्गल स्व और पर के सापेक्ष होकर क्रिया परिणाम वाले हो जाते हैं। सापेक्ष के मायने पराधीनता नहीं है. किन्तु सहज योग है कि योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होने पर यह उपादान क्रिया परिणामयुक्त होता है।

सर्वगत बताकर आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय बताने की विफल चेष्टा—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि आत्मा तो सक्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वव्यापी है। जो-जो सर्वव्यापी होता है वह स्वयं निष्क्रिय होता है, पर जब उनमें क्रिया के हेतुभूत आत्म प्रयत्न गुण का समवाय सम्बन्ध होता है अर्थात् प्रयत्न का संयोग होता है तब हस्तादि सक्रिय हो पाते हैं। इस शंका का उत्तर यह है कि यदि आत्म द्रव्य में क्रिया रूप से परिणमने का सामर्थ्य न होता तो अन्य शरीरादिक पदार्थों में क्रिया न उत्पन्न हो सकती थी। जैसे कि वायु स्वयं क्रिया रूप परिणत है तो पत्ते, फूल आदिक वनस्पतियों को क्रिया का कारण हो जाता है, ऐसे ही आत्मा क्रिया पर्याय के स्वभाव वाला है, सो जब वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम हुआ, ज्ञानावरण का क्षयोपशम हुआ, अंगोपांग नामकर्म का उदय हुआ तब विहायोगतिनाम कर्म के उदय से एक शक्ति विशेष उत्पन्न होती है। उस समय किसी क्रिया रूप से चल रहे आत्मा के हाथ आदिक में क्रिया का उत्पन्न होना युक्त है, याने जो क्रिया रूप परिणमने का स्वयं स्वभाव रखता है वह होगा अन्य की क्रिया का निमित्त कारण, तब ही हस्तादिक क्रियाओं की उत्पत्ति देखी जा रही है, और यदि आत्मा को निष्क्रिय मान लिया जायेगा तो अन्य पदार्थों में भी क्रिया का हेतुभूत वह नहीं हो सकता। सो आत्मा स्वयं क्रिया रूप से परिणमने का स्वभाव रखता है और योग्य कारण कलाप मिलने पर क्रिया रूप से परिणमता है, तो उसका सम्पर्क पाकर हाथ-पैर आदिक अंगों में भी क्रिया होने लगती है, निष्क्रिय पदार्थ अन्य की क्रियाओं का

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखा गया। चाक चलता है, क्रिया होती है तो उसमें से घट पर्याय की उत्पत्ति होती है। तो जहाँ क्रिया नहीं है वहाँ उत्पाद कैसे होगा और जहाँ उत्पाद नहीं है वहाँ व्यय भी नहीं होगा और जहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्य सब खत्म हो गये तो फिर वस्तु ही क्या रही। ऐसा संदेह निष्क्रिय होने वाले पदार्थों में न करना, क्योंकि उनका उत्पाद और ढंग से है, हाँ क्रिया नाम का उत्पाद नहीं हैं यह तो सत्य है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और आगे कहा जाने वाला काल द्रव्य ये निष्क्रिय हैं। क्रिया नामक उत्पाद इनमें नहीं है, फिर भी धर्मादिक द्रव्यों में उत्पाद निरन्तर चलता ही रहता है। यह कैसे सो निरखिये उत्पाद दो प्रकार का होता है—(१) स्वनिमित्तक और, (२) पर निमित्तक, स्वनिमित्तक उत्पाद तो पदार्थों में स्वभावत: अपने ही अगुरुलघुत्व गुण के षड्गुण वृद्धि हानि से चल रहे सभी पदार्थों का उत्पाद और व्यय देखा गया है। यह हुआ स्वनिमित्तक उत्पाद और परनिमित्तक उत्पाद क्या? जैसे घोड़ा, मनुष्य आदिक चल रहे हैं तो उनका निमित्त पाकर या उनके उपलक्ष्य से धर्म द्रव्य का नवीन-नवीन परिणमन रूप उत्पाद माना है। स्थित होने से अधर्म का उत्पाद, अवगाहन होने से आकाश का उत्पाद। सो क्षण-क्षण में उनकी गति, स्थिति, अवगाहन में फर्क हो रहा है तो उनका हेतुभूत जो कुछ भिन्न चल रहा है उसकी अपेक्षा से वह परनिमित्तक उत्पाद विनाश है, ऐसा व्यवहार से समझा जायेगा।

निष्क्रिय द्रव्यों की अन्य पदार्थ परिणाम के प्रति उदासीन निमित्त मात्रता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जो द्रव्य निष्क्रिय है वह दूसरों की गति, स्थिति, अवगाहन और क्रिया के कारणभूत कैसे हो सकता है? जो क्रियावान जल आदिक हैं वे मछली आदिक के गमन के कारण देखे गये हैं, पर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य जब निष्क्रिय ही मान लिये गये तो वे दूसरे की क्रिया के कारण कैसे हो सकते हैं? इस शंका का उत्तर है कि यह द्रव्य दूसरे द्रव्य की गति, स्थिति अवगाहन में प्रेरक नहीं है, किन्तु बलाधान मात्र है, उदासीन सहायक है इन्द्रिय की तरह। जैसे—कोई रूप को देखने की इच्छा कर रहा है तो उस पुरुष के चक्षुइन्द्रिय रूप के निरखने में बलाधान मात्र है, सहायक निमित्त मात्र है, किन्तु वह देखना चक्षुइन्द्रिय के सामर्थ्य की चीज नहीं है। चक्षुइन्द्रिय तो जड़ पौद्‌गलिक है, वह समझने का काम कभी कर ही नहीं सकती, किन्तु जो रूप को समझने का प्रयास करता है उसको रूप के समझने के लिये चक्षुइन्द्रिय सहायक निमित्त होते हैं, इसे कहते हैं बलाधान मात्र, याने जिसकी उपस्थिति से उपादान अपने में बल प्रकट कर सके उसे बलाधान मात्र कहा है। चक्षुइन्द्रिय देखती नहीं है, अन्यथा किसी अन्य द्रव्य में उपयोग लग रहा हो और आँखें खुली भी हों तो भी सामने का कोई पदार्थ दिखता नहीं है, अथवा ये चक्षुइन्द्रिय जो शरीर में नाक के दोनों ओर लगी रहती हैं जड़ पौद्‌गलिक वे सत् समझने वाले पदार्थ हों तो आयु का क्षय हो जाने से जब आत्मा शरीर से निकल जाता है तब ये द्रव्येन्द्रियाँ तो हैं मगर रूपादिक की उपलब्धि में समर्थ नहीं होतीं। इससे यह समझना कि देखना, सूंघना आदिक इन सब ज्ञानों के उत्पत्ति करने में सामर्थ्य आत्मा का ही है। इन्द्रिय तो बलाधान मात्र है।

उदासीन निमित्तमात्र का एक अन्य दृष्टान्त से समर्थन—जैसे कोई दूसरी मंजिल पर भवन है अथवा कहीं भी हो और उसमें चारों ओर अनेक खिड़कियां लगी हैं उस हौल में रहने वाले पुरुष खिड़कियों से चारों ओर की बात देख लेते हैं, समझ लेते हैं तो क्या वह देखना और समझना उन खिड़कियों का सामर्थ्य है? नहीं। देखना, समझना पुरुष का ही सामर्थ्य है। खिड़कियां तो बलाधान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इसमें कारक भिन्न-भिन्न है। तथा जीव पुद्गल अनेक न हों तो अनुभावन संसार और मोक्ष की क्रियाओं का विस्तार यहाँ सिद्ध ही न हो सकेगा। अब अधिकार प्राप्त इन एक-एक द्रव्यों की विशेषता प्रतिपादित करने के लिये सूत्र कहते हैं।

निष्क्रियाणि च ॥ ५-७ ॥

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य व आकाश द्रव्य की निष्क्रियता का परिभाषण—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य ये निष्क्रिय हैं। क्रिया का लक्षण है अन्तरंग और वहिरंग निमित्त की अपेक्षा से जो द्रव्य का अन्य देश में प्राप्ति का हेतुभूत पर्याय विशेष होता है उसको क्रिया कहते हैं। आभ्यंतर कारण क्या है ? क्रिया रूप में परिणमने की शक्ति सहित द्रव्य। स्वयं द्रव्य में क्रिया रूप से परिणमने की जो योग्यता है वह अन्तरंग कारण है, और वहिरंग कारण क्या है ? जिनके सम्पर्क अभिघात आदिक की अपेक्षा करके पदार्थ के देशान्तर की प्राप्ति का हेतुभूत परिणमन विशेष उत्पन्न होता है वह बाह्य कारण है। बाह्य कारण होता है अन्य पदार्थों के सम्पर्क वाला। अन्तरंग कारण होता है क्रिया रूप से परिणमने वाली स्वयं द्रव्य की शक्ति। तो ऐसा अन्तरंग और वहिरंग निमित्त सापेक्ष क्रिया हुआ करती है। यहाँ दोनों को निमित्त कहा है। इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि परिणमने वाले द्रव्यों में क्रिया करते रहने का स्वभाव नहीं होता। यदि क्रिया रूप परिणमने का द्रव्य स्वभाव होवे तो द्रव्यों को हमेशा ही निरन्तर क्रिया करते ही रहना चाहिये। क्रियावान द्रव्यों में भी कभी क्रिया होती है, कभी नहीं होती है। जो भी सक्रिय द्रव्य हैं—जीव और पुद्गल, इनमें कभी क्रिया है कभी नहीं है। जब अन्तरंग वहिरंग निमित्त का योग है तब क्रिया होती है अन्यथा नहीं होती। सो यदि क्रिया करना द्रव्य का स्वभाव बन जाये तो सदैव क्रिया करते रहना चाहिये।

क्रिया के लक्षण के विशेषण शब्दों से ध्वनित तथ्य—यहाँ जो क्रिया का लक्षण किया गया है उसमें बताया है कि द्रव्य का पर्याय विशेष है क्रिया। इस विशेषण से यह सिद्ध हुआ कि वह क्रिया भिन्न वस्तु नहीं है। यदि क्रिया द्रव्य से भिन्न वस्तु बन जाये तो द्रव्य तो निश्चल बन जायेगा, और जब द्रव्य निश्चल हो गया तो कोई भी भिन्न क्रिया हो उसका इस पर कोई प्रभाव नहीं होगा। अथवा यदि क्रिया का पर्याय विशेष न हो किन्तु अन्य ही हो कुछ तो न क्रिया रहेगी न द्रव्य में क्रिया परिणाम बताया जा सकेगा। क्रिया का जो लक्षण किया गया है उसमें बताया है कि अन्य देश की प्राप्ति का कारण क्रिया होती है। इससे ज्ञानादिक परिणमनों की निवृत्ति हो गई, याने ज्ञानादिरूप परिणाम विशेष हो उन्हें क्रिया नहीं कहते। वह सब तो भावरूप परिणमन हैं किन्तु जो एक देश से अन्य देश को प्राप्त कराये, ऐसा परिणाम विशेष क्रिया कहलाती है। निष्क्रियाणि, इस शब्द में निर् तो उपसर्ग है और क्रिया संज्ञावाचक है। जिसका यह अर्थ होता है कि जो क्रिया से निष्क्रान्त हो वह निष्क्रिय कहलाता है, याने जहाँ क्रिया नहीं है ऐसा द्रव्य निष्क्रिय कहलाता है।

निष्क्रिय द्रव्यों में भी उत्पाद व्यय की निरन्तरता—यहाँ शंका होती है कि यदि पदार्थ निष्क्रिय हो गये तो उनमें कोई पर्याय उत्पन्न न हो सकेगी। तब वह ध्रुव कूटस्थ अपरिणामी हो जायेगा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है कि निष्क्रियपना होने से पर्यायों के उत्पाद का अभाव हो जायेगा, क्योंकि पर्यायों का उत्पाद और ढंग से ही होता है। जो निष्क्रिय पदार्थ में भी है और क्रियावान पदार्थ में भी है। धर्मादिक द्रव्य यद्यपि निष्क्रिय हैं तो भी उनमें उत्पाद व्यय होता रहता है। वहाँ यह संदेह न करना चाहिये कि जैसे घट आदिक का उत्पाद क्रियापूर्वक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो इस अर्थ से धर्म, अधर्म और आकाश ये ३ द्रव्य आ गए। प्रथम सूत्र में इनका नाम दिया गया है। उस क्रम से आकाश पर्यन्त लेना, मायने आकाश को भी लेना। कहीं आ शब्द का प्रयोग मर्यादा अर्थ में होता, उस मूड में यह भाव बनता कि उससे पहले-पहले तक लेना। किंतु यहाँ मर्यादा अर्थ में आ का प्रयोग नहीं है। किंतु अभिविधि अर्थ में है। जिससे प्रथम सूत्र के क्रम के अनुसार बना कि धर्म, अधर्म और आकाश ये ३ एक-एक द्रव्य हैं। एक शब्द अर्थ यहाँ समान आदिक नहीं है किंतु गणना-वाचक है। संख्या बताई जा रही है कि वह द्रव्य केवल एक एक ही है।

सूत्र में एक द्रव्याणि बहुवचनान्त कहने का प्रयोजन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जब यह सब केवल एक द्रव्य है तो द्रव्य शब्द का बहुवचन प्रयोग न करना चाहिए। एक द्रव्याणि की जगह एक द्रव्यं यह प्रयोग करना चाहिये। उत्तर देते हैं कि एक द्रव्याणि कहने से धर्म की अपेक्षा बहुत्व की सिद्धि हुई है। सामानाधिकरण की दृष्टि से ३ पृथक-पृथक एक-एक द्रव्य हैं। शंकाकार कह रहा था कि द्रव्य शब्द का एकवचन में प्रयोग होना चाहिये। पर वह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मादिक की अपेक्षा यहां बहुत्व की सिद्धि की गई है। धर्मादिक बहुत द्रव्य हैं, उस अपेक्षा से बहुवचन का उपयोग किया है। एक में अनेक अर्थ के रहने का सामर्थ्य है। अब शंकाकार कहता है कि अगर एक द्रव्य कहने से धर्म की अपेक्षा बहुत्व सिद्ध नहीं होता तब एकैकं ऐसा कह लीजिये कि ये तीन द्रव्य एक-एक हैं और उसमें सूत्र का लाघव भी हो जाता है, और रहा बहुत बताने का सवाल सो यह प्रसिद्ध ही है कि द्रव्य ६ प्रकार के होते हैं, सो उन द्रव्यों का सही ज्ञान होता ही रहता है। पर एक-एक है, इस कारण से एकैकं ऐसा सूत्र कह दिया जाना चाहिये। इसके उत्तर में कहते हैं कि एक द्रव्याणि, ऐसा शब्द देना अनर्थक नहीं है क्यों कि इन पदार्थों में द्रव्य की अपेक्षा, एकत्व की प्रसिद्धि की है सो हो एकैकं ऐसा कहने पर नहीं जाना जा सकता कि द्रव्य से एक है, क्षेत्र से एक है कि भाव से एक है ? यह समझ में नहीं आ सकता था तो उसका सन्देह मिटाने के लिये एक द्रव्य का बहुवचन में ग्रहण किया गया है।

एक द्रव्याणि बहुवचनान्त शब्द से ध्वनित तथ्य—सूत्र में एक द्रव्याणि कहने से अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि गति स्थिति परिणाम वाले अनेक प्रकार के जीव पुद्गल द्रव्यों के अनेक परिणामों का निमित्तपना होने से भावों से बहुत्व होने पर भी प्रदेश भेद से अनेक क्षेत्रपना होने पर भी धर्म द्रव्य व अधर्मद्रव्य, द्रव्य से एक-एक ही हैं। यहाँ अवगाही अनेक द्रव्यों को अवगाहने में निमित्तपना होने से अनन्त भावपना होने पर भी, प्रदेश भेद होने से अनन्त क्षेत्रपना होने पर भी द्रव्य से एक ही आकाश है, इसलिये इस सम्बन्ध में उथल-पुथल न करना। और इसी प्रकार जीव पुद्गलों में एक द्रव्यपना नहीं है—जैसे कि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, ये एक-एक हैं। तब सूत्रों पर द्रव्यों में एक-एक ही का ग्रहण बना। अब यहाँ तक धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल, जीव इन ५ पदार्थों का वर्णन चला है, तो इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि काल द्रव्य फिर कैसे है ? यहाँ तो बताया नहीं गया ? सो उसका उत्तर यह है कि वह एक-एक है और असंख्यात संख्या में है, इसका निर्णय आगे किया जायेगा। तो यहाँ तक ५ अस्तिकायों की बात कही गई है, जो कि आत्महित में कैसे उनका ज्ञान साधक होता है, यह सब बात विचार लेना चाहिये। तो इस सूत्र में जीव और पुद्गल छोड़ दिये गये। और आकाश तक लिया गया है, क्योंकि जीव और पुद्गल में अनेकपना है। यदि उनमें अनेकपना न हो तो देखे गये क्रिया कारक के भेद का विरोध होगा, वृक्ष से पत्ता गिरा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अभेद होने पर भी मतुप् प्रत्यय की योजना का व्यवहार होने से भी रूप शब्द में इन् प्रत्यय लगने का औचित्य—दूसरी बात यह है कि लोक में ऐसा प्रकट व्यवहार दिखता है कि अभेद होने पर भी वान शब्द लगा करता है। जैसे आत्मा आत्मावान है, अपने स्वरूप वाला है। आत्मा कोई भिन्न वस्तु तो नहीं है लेकिन प्रतिपादन विधि से इसी प्रकार से प्रयुक्त होता है। जैसे कोई कहना कि यह काठ सारवान है। कोई मोटी कड़ी पड़ी थी। जिसे छत के नीचे लगाते हैं, वह है कड़ी तो वह कड़ी सारवान है, सार वालो है। अब देखिये सार अभिन्न है सारमय ही तो है वह वृक्ष, मगर सारवान इस प्रकार का शब्द का प्रयोग अभेद होने पर भी देखा जाता है। कहीं सार वृक्ष से अन्य नहीं है। तो भी व्यपदेश देखा गया ऐसे ही रूपी है पुद्गल ऐसा कहने पर यद्यपि रूप शक्ति पुद्गल में अभेद रूप है फिर भी लोक में ऐसा व्यवहार देखा हो जाता है।

सूत्र में विविधता की प्रसिद्धि के लिये पुद्गल शब्द का बहुवचन में प्रयोग—इस सूत्र में दो पद हैं। पहला पद है— रूपिणः और दूसरा पद है –पुद्गलाः। पहले पद के सम्बन्ध में वर्णन हुआ है। अब द्वितीय पद पुद्गल के विषय में सुनो। सूत्र में पुद्गलाः ऐसा बहुवचन कहा गया है, सो यह बहुवचन भेद का प्रतिपादन करने के लिए है याने पुद्गल के अनेक प्रकार बताने के लिए बहुवचन में प्रयोग किया गया है। पुद्गल नाना प्रकार के हैं। पहले तो देखिये–परमाणु और स्कन्ध। स्कंध नाना तरह के हैं, दो परमाणुओं का समुदाय भी स्कन्ध कहलाता है। अनन्त परमाणुओं का समुदाय भी स्कन्ध है। सो पुद्गल के अनेक भेद आगे बताये जायेंगे। यहाँ केवल इतना ही निर्देश किया जाता है कि सूत्र में पुद्गलाः शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है, तो उससे विदित होता है कि अनेक जाति के पुद्गल मूर्तिमान हैं, यह अर्थ बनता है। ये पुद्गल एक-एक परमाणु रूप भिन्न-भिन्न हैं और ये अनन्तानन्त परमाणु हैं। समस्त परमाणु कितने हैं इसका अन्दाज बनावें इस ढंग से कि पहले जीव द्रव्य के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल की ही गणना समझ लीजिये। जो जीवविकास में अत्यन्त हीन हो। जैसे कोई सूक्ष्म जीव, छोटी से छोटी अवगाहना वाला जीव के भी साथ जो शरीर लदा है औदारिक शरीर उसमें अनन्त परमाणु हैं और उससे अनन्तगुणे शरीर के आहार वर्गणा के विश्रासोपचय परमाणु हैं। उसे अनन्त गुणे तैजस परमाणु हैं। उससे अनन्तगुणे कार्माण परमाणु हैं और उससे अनन्तगुने कार्माण वर्गणा के विश्रासोपचय परमाणु हैं। इतने परमाणु तो लगे हैं सूक्ष्म जीव के साथ। एक इन्द्रिय के साथ, पर जो दो इन्द्रिय जीव हैं तो उतने परमाणु तो उसके साथ हैं ही। पर भाषावर्गणा के परमाणु भी उस जीव से अधिष्ठित हैं। फिर ३ इन्द्रिय को देखिये तो उतने तो हैं ही और भाषावर्गणा के परमाणु उसके साथ हैं, इसी प्रकार ४ इन्द्रिय में व ५ इन्द्रिय में हैं संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोवर्गणा के परमाणु भी लग गए। यह तो जीव के द्वारा गृहीत का वर्णन है—जोकि ग्रहण में आ गये। अब देखो वे परमाणु और हैं जिन्हें जीव ने ग्रहण करके छोड़ दिया। वे और जो जीव के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकते वे परमाणु और हैं। तो इस प्रकार अनन्तानन्त परमाणु विदित होते हैं। सो ये सब परमाणु एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं तो क्या इसी तरह से और द्रव्य भी भिन्न-भिन्न अनेक हैं उसके उत्तर में कहते हैं—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५–६ ॥

अभिविधि अर्थ में आङ्का प्रयोग—आकाश पर्यन्त एक द्रव्य होते हैं। यहाँ आ शब्द का जो अलग प्रयोग है उसका अर्थ है अभिविधि, मायने व्यापना जिसका अर्थ है उसे भी शामिल करना।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है जैसे कथन आता है कि ४ महाभूत हैं। कहीं रूप शब्द गुण विशेष में आता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने के जो योग्य है वह रूप कहलाता है। तो कहीं मूर्ति का पर्यायवाची रूप शब्द है। जैसे रूपि द्रव्यं ऐसा बोला जाए तो उसका अर्थ है कि मूर्तिमान द्रव्य। तो रूप शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उन अर्थों में से मूर्ति अर्थ लेना है। पुद्गल रूपी होते हैं अर्थात पुद्गल मूर्तिक होते हैं।

रूपादिमत्त्व व संस्थान विशिष्टत्व की मूर्तिकता—अब कहते हैं कि वह मूर्ति क्या है जो रूप शब्द से ग्रहण कराया गया है। तो कहते हैं कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का होना, गोल, त्रिकोण, चौकोर आदिक आकार का होना ये ही जिसके परिणाम हैं उसे मूर्ति कहते हैं। आकार और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इस ही को मूर्ति कहते हैं। अथवा रूपी शब्द से रूप गुण ले लीजिये। जो नेत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण के योग्य होता है सो रूप अर्थ भी ले सकते हैं। पर यहां यह शंका न करना चाहिए कि रूप ग्रहण कर लें तो रस, गन्ध, स्पर्श छूट गए, क्योंकि रस आदिक रूप के साथ ही अव्यतिरेकी है, याने रूप के अविनाभावी हैं। जहाँ रूप हैं वहाँ ये सब हैं। जहाँ इन ४ में से कोई एक है वहाँ वे सब हैं और इस कारण रूप शब्द कहते ही रस, गन्ध, स्पर्श का अन्तर्भाव हो जाता है।

पुद्गलद्रव्य और रूपगुण में पर्यायार्थिकदृष्टि से कथंचित भेद विदित किया जाने से रूप शब्द में इन् प्रत्यय की योजना—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि रूपिन् शब्द बना है तद्धितमें। रूप शब्द से इन् प्रत्यय लगाकर जिसका अर्थ होता है रूप वाला, सो इन् प्रत्यय लगाना अनुचित जँचता है, रूप वाला कहना असंगत मालूम होता है क्योंकि पुद्गल रूप वाला नहीं, किंतु रूपमय है। पुद्गल के साथ रूप का अभेद होने से रूप वाला कहना ठीक नहीं जचता। इसके उत्तर में कहते हैं कि सर्वथा ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि रूप में और पुद्गल में कथञ्चित भेद सिद्ध होता है। शंकाकार का तो यह अभिप्राय है कि जैसी दण्डी, दण्ड वाला, छतरी वाला कहा तो चूंकि छतरी और पुरुष ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, सो वहाँ तो वाला शब्द मानना ठीक है, परन्तु यहाँ रूप पुद्गल द्रव्य से भिन्न नहीं है। उस पुद्गल के ही रूपादिक पर्याय परिणाम है। रूप गुण में पुद्गल का ही गुण है। इस कारण इन् न लगाना चाहिए। वाला शब्द न लगाना चाहिए। तो वह भेद को देखकर ही तो कहा जा रहा है। सो यहाँ भी देख लो कि रूप पुद्गल से कथञ्चित भिन्न है, यद्यपि पुद्गल का अभिन्न परिणाम है रूप, सो अभेद है। द्रव्यार्थिक की दृष्टि में द्रव्य से, भेद रूप से रूप पाया नहीं जाता है तो भी पर्यायार्थिकनय की विवक्षा की जाती है तब यह विदित होता ही है कि रूप का विनाश होने पर पुद्गल अवस्थित रहते हैं। सो आदिमान और अनादिमान् ऐसे दो ढंग विदित होते हैं। रूप का जो हरा, पीला, नीला आदिक परिणमन है वह तो आदिवाला जचता है, किंतु वह पुद्गल द्रव्य जिसमें हरे, पीले आदिक परिणमन आये वे अनादि विदित होता है। तो कथञ्चित रूप में और पुद्गल में भेद है। जैसे आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है, पर प्रतिपादन के लिए अथवा पर्यायदृष्टि में तो यह विदित होता है कि आत्मा द्रव्य है और ज्ञानगुण है, जैसे ज्ञान-गुण है वैसे ही अनन्त गुण भी हैं। पर आत्मद्रव्य वह एक स्वभावी ही है। तब ही तो जो कुछ जाना उसकी आदि हुई, और आत्मा अनादि है। ऐसे ही रूप में जो बना उसकी आदि है और वह स्कंध पुद्गल भी अनादि है इस कारण से रूप में और पुद्गल में कथञ्चित भेद भी सिद्ध होता है। अन्वय व्यतिरेक भी पाया गया, इससे भी भेद सिद्ध हुआ तो रूप में और पुद्गल में कथञ्चित भेद सिद्ध होता है इस कारण इन् शब्द अर्थात वाला शब्द लगाना उचित ही है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि अवस्थित का विशेषण है नित्य मायने ये सभी पदार्थ नित्य अवस्थित हैं, कुछ काल के लिये अवस्थित हो सो नहीं याने स्व पर प्रत्ययक उत्पादक विनाश होते रहने पर भी जिन-जिन पदार्थों का जो-जो स्वरूप है वे पदार्थ अपने उस स्वरूप को कभी भी नहीं छोड़ते। इस कारण ये समस्त द्रव्य नित्य अवस्थित हैं, यह अर्थ लेना चाहिये।

सूत्रोक्त अरूप शब्द का विवरण और प्रकरण प्रोक्त द्रव्य संख्या का लक्ष्य—प्रकृत सूत्र में जो अवस्थित शब्द दिया है वह क्रियावानपने की निवृत्ति के लिये है। ऐसी शंका होने पर उत्तर दिया जा रहा है कि अवस्थित वचन निष्क्रिय बताने के लिये नहीं है। भले सूत्रनिर्दिष्ट ये द्रव्य निष्क्रिय हैं, पर आगे सूत्र आयेगा— निष्क्रियाणि च। उस सूत्र से सिद्ध होगा कि ये पदार्थ निष्क्रिय हैं। सूत्र में जो अरूप शब्द का ग्रहण है वह द्रव्य के स्वतत्त्व के बताने के लिए है याने यह द्रव्य अरूपी है। इसका स्वरूप अरूप है। और, रूप नहीं है इसके स्वरूप में, ऐसा कहने से रस, गन्ध, स्पर्श भी ग्रहण में आता कि ये भी नही हैं। तो अरूप का अर्थ रूप रहित यह अर्थ न रहा किंतु अमूर्त है मायने रूप, रस, गंध स्पर्श इन चारों से रहित है। इस सूत्र तक ५ द्रव्यों का वर्णन चला। इससे यह न समझना कि जो ६ द्रव्य बताये गए हैं वह बताना गलत है, क्योंकि यहां मतलब है अस्तिकायों का। ५ अस्तिकाय हैं, उनका प्रकरण चल रहा है। एक द्रव्य जो शेष रह गया उसको बताने के लिये आगे स्वयं कालश्च ऐसा सूत्र कहा जायेगा। सो उसे न देखकर केवल अब तक कहे हुए द्रव्य पर ही दृष्टि देकर जानना कि यहाँ तक ५ कहे गए हैं। सो यहाँ से इन ५ अस्तिकायों के वर्णन में और ६ द्रव्यों के बताने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है

पुद्गल द्रव्य के अरूपित्व के प्रतिषेध के लिये पृथक सूत्र की वक्ष्यमाणता—अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि प्रकृत सूत्र में सभी द्रव्यों को नित्य अवस्थित बताया गया है। वह तो सही है, पर साथ ही इन सबको अरूपी बताया गया है याने अब तक जिन-जिन पदार्थों का वर्णन हुआ धर्म, द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और जीव, सो इन पांचों की ही बात इस सूत्र में कही गई है। तो अरूपी भी कहा गया है तो क्या पुद्गल भी अरूपी है ? उसका समाधान यों करना कि यह अभी सामान्य कथन है। उसका अपवादरूप सूत्र आगे आयेगा। सूत्र रचनापद्धति में लाघव आदि की दृष्टि से इस प्रकार वर्णन चलता है कि कोई बात पहले बोल दी और उसमें कोई अपवाद है, तो आगे सूत्र स्वयं कह दिया करते हैं। तो उस अपवाद के लिए सूत्र कहा है।

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५-५ ॥

प्रकरण में अरूपित्व शब्द का वाच्य अमूर्तत्व—पुद्गल द्रव्य रूपी होते हैं यद्यपि रूप शब्द के अनेक अर्थ हैं। पर यहां रूपी से मतलब मूर्त का ही ग्रहण करना। रूप शब्द के क्या-क्या अर्थ होते हैं ? रूप शब्द का कहीं तो द्रव्य अर्थ होता है। जैसे कोई कहे कि गोरूप, तो उसका अर्थ है गोद्रव्य। कहीं रूप का अर्थ स्वभाव बनता है—जैसे चैतन्यं पुरुषस्यस्वरूपं। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। तो स्वरूप मायने स्वभाव। आत्मा का स्वरूप ज्ञानदर्शन है। मायने ज्ञान दर्शन आत्मा का स्वभाव है। कहीं रूप शब्द अभ्यास अर्थ में आता है। जिसे दस रूप अध्ययन करना चाहिए जिसका अर्थ होता है कि १० बार तक अभ्यास करना चाहिए। कहीं रूप शब्द श्रुति में आता है अर्थात श्रवण विषयभूत बने उसमें आता है। जैसे स्वंरूपं शब्दस्य स्वश्रुतिरित्यर्थः याने शब्द का स्व रूप है मायने श्रवण का विषयभूत बने वही शब्द का रूप है। रूप शब्द का प्रयोग महाभूतों के लिए भी किया जाता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्रव्यों की नित्यता—ये सब द्रव्य नित्य अवस्थित हैं और अरूपी हैं। इनके तीन विशेषण भी किये जा सकते हैं। उक्त सब द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं। यहां नित्य शब्द ध्रौव्य का वाची है ? दिने धातु से ध्रुव अर्थ में न्य प्रत्यय हो जाता है। उससे नित्य बनता है। नित्य मायने शाश्वत, सदैव रहने वाला। किस प्रकार से सदैव रहने वाला ? ऐसी जिज्ञासा होने पर एक सूत्र आगे कहा जायेगा—तद् भावाव्ययं नित्यं। उसके आधार से समझायेंगे। द्रव्य जिस स्वरूप से उपलक्षित है याने उसका जो असाधारण गुण है उस स्वरूप से उस भाव का विनाश न होना नित्यपना कहलाता है। जैसे धर्म द्रव्य, गतिहेतुत्व लक्षण वाला है, अधर्म द्रव्य स्थितिहेतुत्व लक्षण वाला है, आकाश अवगाहनहेतुत्व लक्षण वाला है, पुद्गल रूपादिक गत्व लक्षण वाला है और जीव चैतन्यस्वरूप बताया गया है। तो द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से इस स्वभाव से और अस्तित्वादिक गुणों से कभी भी व्यय को प्राप्त नहीं होते अर्थात् नष्ट नहीं होते। इस कारण ये सब द्रव्य नित्य हैं।

द्रव्यों की अवस्थितता—अवस्थित शब्द का क्या अर्थ है ? धर्मादिक ६ द्रव्य हैं, कभी भी ६ संख्या का व्याघात नहीं है। उतना ही है। यह बताने के लिये अवस्थित शब्द कहा है। पदार्थ जितने हैं उतने ही अवस्थित हैं। जाति अपेक्षा भी और व्यक्ति अपेक्षा भी। सत् कभी असत् नहीं होता। असत् कभी सत् नहीं होता। अथवा प्रदेश की अपेक्षा देखें तो जिसके जितने प्रदेश कहे गये हैं उतने ही होते हैं, उनका भी विनाश नहीं होता। जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, लोकाकाश एक जीव इनके समान असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं। आकाश दोनों ही एक ही हैं पर सम्बन्ध भेद से भेद किया है। पुद्गल में परमाणु की अपेक्षा एक ही प्रदेश है पर उपचार से शक्ति अपेक्षा स्कन्ध अपेक्षा अनन्त प्रदेशीपना है। तो इन प्रदेशों का भी उल्लंघन न होने से अवस्थित कहा है। यहाँ शंकाकार कहता है कि अवस्थित का जो कुछ भी भाव होता है वह तो नित्य शब्द के कहने से ही जान लिया गया है। फिर अवस्थित शब्द यहाँ न कहना चाहिये, क्योंकि नित्यपने का उल्लंघन करके अवस्थितपना नहीं होता। अतएव नित्य शब्द कह देने पर अवस्थित शब्द की आवश्यकता नहीं रहती। इसका उत्तर यह है कि अवस्थित शब्द का भाव यह है कि द्रव्य में अनेक परिणाम होने पर भी उनके असाधारण स्वभाव का परिणाम किसी अन्य के रूप से नहीं हो जाता। यह भी अवस्थित शब्द का भाव लेना है। जैसे—धर्म, अधर्म आकाश, काल इनके कितने ही परिणमन होते रहते हैं, पर यह मूर्तिमान बन जाये या उपयोग स्वभाव का बन जाए यह नहीं हो पाता। जीव के भी कितने ही परिणाम होते हैं, पर वह अधर्म बन जाए या रूपादिमान बन जाए, यह भी कभी नहीं होता। पुद्गल के नाना परिणमन होते हैं, पर इन परिणमनों के कारण कभी मूर्तपना भी बदल जाये और अमूर्तपना आ जाये यह भी कभी नहीं होता। यह बात प्रसिद्ध करने के लिये अवस्थित कहना आवश्यक है।

परिणमन होते रहने पर भी वस्तु के नित्य अवस्थित रहने का वस्तु स्वरूप—शंकाकार कहता है कि इसमें परिणाम अनेक होते रहें और अवस्थित भी कहलायें, ये दो बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं ? जिनके परिणाम अनेक होते हैं वे अवस्थित कैसे ? तो उत्तर इसका यह है कि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो उनकी स्थिति है और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उनका उत्पाद विनाश है, तो चूंकि समस्त पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक हैं इस कारण नय विवक्षा में दोनों ही बातें एक साथ हैं, परिणमन अनेक होते रहते हैं फिर भी ये ज्यों के त्यों अवस्थित रहते हैं। अथवा यों मानो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आकाश में किया जाता है। दिशा कोई अलग पदार्थ नहीं है, किन्तु सूर्य के उदय आदिक की अपेक्षा आकाश प्रदेश पंक्तियों में यहाँ यह दिशा है ऐसा व्यवहार बनाया जाता है। जैसे सूर्य उदय, जैसे आकाश प्रदेश पंक्तियों से होता है उस ओर मुख करके खड़े हो जायें तो जिस ओर मुख है वह पूर्व है, जिस ओर पीठ है वह पश्चिम है, जिस ओर दाहिना हाथ है वह दक्षिण है और जिस ओर बाँया हाथ है वह उत्तर है। तो सूर्य के उदय आदिक की अपेक्षा ये सब दिशाओं के व्यवहार चलते हैं। इस तरह ६ द्रव्यों में अनेक द्रव्य जीव और पुद्गल में ही अन्तर्भाव हो गये और धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य की उसमें चर्चा ही नहीं है। तो द्रव्य ६ ही हैं, कम या अधिक जाति के द्रव्य नहीं हैं।

बहुवचनान्त प्रयोग से जीवों की अनन्तता का समर्थन—जीवाश्च, इस सूत्र में जीवा: जो वह बहुवचन प्रयोग है वह जीवों की विविधता बताने के लिये है। जीव गणना में भी अनन्तानन्त हैं और जाति की अपेक्षा भी नाना प्रकार के हैं, जैसे जीव संसार भी है और दिखता भी है। संसारी जीव, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कषाय आदिक मार्गणाओं की अपेक्षा भिन्न-भिन्न प्रकारों में पाये जाते हैं। जैसे कोई नारकी है, कोई तिर्यन्च है, मनुष्य है, देव है, कोई एकेन्द्रिय है, कोई दो इन्द्रिय आदिक है किसी के कैसा ही योग है, किसी के कैसो ही कषाय है आदिक अनेक भेद मिथ्यात्व आदिक गुण स्थानों की अपेक्षा भी संसार नाना प्रकार के हैं, सूक्ष्म वादर एकेन्द्रिय आदिक १४ जीव समासों की अपेक्षा भी अनेक प्रकार के हैं। मुक्त जीवों में भी किन्हीं अपेक्षाओं से भेद पड़ जाता है। जैसे एक ही समय में गुण सिद्ध हुये। दो समय में दो समय के अन्तर से गुण सिद्ध हुये। ऐसे काल की अपेक्षा भेद किये जा सकते कि अमुक सिद्ध इस जगह से हुये हैं। या मुक्ति से पहले जो शरीर था उस शरीर के आकार उनका प्रमाण अब भी है। उस अवगाहना के भेद से भी इनमें भेद परखा जाता है। तात्पर्य यह है कि जीव नाना प्रकार के हैं, यह बताने के लिये जीव:, ऐसे बहुवचन का प्रयोग किया है।

अनन्त पूर्वोक्त व प्रकृत सूत्र को मिलकर एक सूत्र न बनाने का प्रयोजन—यहाँ शंकाकार कहता है कि इस सूत्र से पहले द्रव्याणि सूत्र आया था। वहीं ही जैसे जीवाः यह प्रयोग और कर देते तो अलग सूत्र न बनाना पड़ता द्रव्याणि जीवाः यह सूत्र बन जाता, लघुता भी हो जाती। उत्तर इसका यह है कि यदि इन दोनों का मिलाकर ऐसा ही एक सूत्र कर दिया जाता तो यह अर्थ होता कि जीव द्रव्य है, पर अन्य भी द्रव्य हैं, यह सिद्ध न होता। शायद यह कहो कि द्रव्याणि बहुवचन है इस कारण धर्मादिक द्रव्य भी ग्रहण में आ जाते। तो यह भी कहना यों ठीक नहीं कि बहुवचन होने पर भी चूंकि जीवाः यह भी तो बहुवचन है, सो द्रव्याणि बहुवचन माना जाता, फिर भी यह ही अर्थ होता कि समस्त जीव द्रव्य हैं। यदि यह कहा जाये कि अधिकार तो धर्मादिक द्रव्यों का चल रहा है। सर्वप्रथम सूत्र में बताया ही गया था तो दोनों का एक सूत्र बनाने पर भी अधिकार के कारण जीवों का भी ग्रहण होता, और जीव उसके साथ हैं ही। यों सभी ग्रहण में आ जाते। उत्तर इसका यह है कि द्रव्याणि शब्द जीव से बंध गया एक सूत्र बनाने से। सो जीव की ही द्रव्य संज्ञा बनती। अधिकार की बात नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार यहां तक धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पञ्च अस्तिकायों का इस अध्याय में निर्देश किया गया है। अब इन द्रव्यों की विशेषता बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥५-४॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गुण व्यक्त हो, कोई गुण अव्यक्त हो। कोई ऐसा सोचे कि चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण में नहीं आता, इसलिये रूप नहीं है तो परमाणु भी तो चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण में नहीं आता, लेकिन परमाणु यदि रूपरहित होता तो परमाणुओं के समूह रूप स्कन्ध भी कभी रूप वाला न हो सकता था। सो ये चार तो पुद्गल ही हैं। मन दो प्रकार का होता है—(१) द्रव्य मन और, (२) भाव मन। तो भाव मन तो ज्ञानरूप है सो वह जीव का गुण है। उसका आत्म द्रव्य में अन्तर्भाव है और द्रव्य मन, पुद्गल द्रव्य का विकार है, भले ही वह आँख आदिक से न दिखे, पर चक्षु से न दिखने से वह पुद्गल नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, परमाणु भी तो नहीं दिखता। पुद्गल है और अनुमान से सिद्ध होता, मन रूपादिक वाला है क्योंकि यह ज्ञानोपयोग का करण होने से चक्षु इन्द्रिय की तरह, जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान चलता है तो चक्षु इन्द्रिय रूपादिमान है ऐसे ही मन के द्वारा भी ज्ञानोपयोग चलता है तो वह मन भी रूपादिमान है।

यहाँ शंकाकार कहता है कि जो यह अनुमान बनाया कि मन रूपादिक वाला है ज्ञानोपयोग का करणपना होने से, सो इस देह में व्यभिचार दोष आता है। क्योंकि ज्ञानोपयोग का करणपना नामक हेतु अमूर्त शब्द में भी देखा जाता है, इस कारण व्यभिचारी है। उत्तर देते हैं कि यहाँ हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि शब्द भी पौदगलिक होने से मूर्तमान ही हैं। जैसे शब्द किसी मोटी भींट से छिड़ जाता है। कांच बीच में पड़ा हो तो शब्द उससे भी छिड़ जाते हैं। टेप में रिकार्ड में शब्द भर लिये जाते हैं, इन सब बातों से सिद्ध है कि शब्द मूर्तिमान है और बोलते समय मुख के आगे हाथ लगाया तो उसका आघात भी मालूम होता है। अब शंकाकार कहता है कि परमाणु आदिक में अतीन्द्रिय होने पर भी रूपादिक वाले कार्य देखे जाते हैं, इस कारण परमाण आदिक में रूपादिक वाला पन तो अनुमान में आता है, पर वायु और मन इनके रूपादिक वाला कार्य पाया जाता है, फिर मन को और वायु को रूपादिक वाला कैसे सिद्ध कर सकते हैं? तो उत्तर यह है कि सभी परमाणुओं में रूपादिक वाला कार्य पाने की योग्यता है, सो चाहे कोई सूक्ष्म स्कन्ध हो जिससे उसका रूपादिमान कार्य न पाया जाये, दृष्टि में नहीं आया और परमाणु का तो रूपादिकपना दृष्टि में आता ही नहीं, पर हैं ये सब पुद्गल परमाणु और उनमें रूपादिमानपना है। यदि ये रूपी न होते तो इनके विशेष स्कन्ध बनने पर भी रूप प्रकट नहीं होता। चूंकि स्कन्धों का रूप प्रकट है, उससे यह सिद्ध है कि परमाणु सब रूपादिमान है।

सर्व प्रकार के पुद्गलों की पुद्गलैक जातिपना—यहाँ यह बात जानना चाहिये कि पुद्गल के नाते से जितने भी पुद्गल स्कन्ध है वे सब एक जाति के हैं अर्थात् पुद्गल है, यद्यपि यहां पृथ्वी, जल आदिक विशेष-विशेष मालूम पड़ रहे हैं पर ये सब एक ही द्रव्य हैं, परमाणु ही हैं, और इनकी अदल-बदल भी देखी जाती है। चन्द्रकान्तमणि जल बन जाता है। जो आदिक पदार्थ वायु बन जाते हैं, तो इनका परिवर्तन भी देखा जाता है, जिससे सिद्ध है कि ये सब एक पुद्गल आदिक जाति के ही द्रव्य हैं। प्रकरण यहाँ यह चल रहा है कि द्रव्य ६ प्रकार के हैं। अन्य वादियों के द्वारा मानी गई संख्या कुछ ठीक नहीं है। जैसे किन्हीं ने ९ द्रव्य माने तो उनमें से अनेक द्रव्यों का अन्तर्भाव पुद्गल में हुआ है और धर्म-अधर्म पुण्य-पाप भाव का अन्तर्भाव आत्मा में हुआ है। मन का भी जो एक भेदभाव मन है उसका भी अन्तर्भाव आत्मा में है।

दिशा की आकाश भागरूपता व द्रव्यों की इयत्ता का उपसंहार—दिशा का अन्तर्भाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संयोग से ज्ञान हुआ करता है। और यदि जीवत्व का बोध स्वयं अपने आप हो गया तो ऐसे ही जीव का भी बोध सीधा क्यों न मान लिया जाये ? जीव नामक पदार्थ है और उसको समझने के लिये इसमें स्वभाव है, शक्ति है, पर्याय है, जीवत्व है आदिक विवेचन चलता है।

अनादिसिद्ध पारिमाणिक जीव से स्वरूप को भिन्न पदार्थ मान कर बात बनाने का जोग जुगाड़ करने की व्यामूढ़ता—शंकाकार कहता है कि जीव में तो जीवत्व के संयोग से ज्ञान होता है, किंतु जीवत्व का परिचय दीपक की तरह स्वत: ही हो जाता है। सो उत्तर यह है कि जैसे जीवत्व में स्वत प्रत्यय माना प्रदीप की तरह। इसी तरह जीव में भी स्वत: प्रत्यय मानने में कोई बाधा नहीं होती। शंकाकार यदि ऐसी तर्क करे कि जीव और जीवत्व ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं इस कारण उनमें यह समानता नहीं लायी जा सकती कि जैसे जीवत्व में स्वत: प्रत्यय होता है ऐसे ही जीव में भी हो जायेगा। यह तर्क यों ठीक नहीं कि जीव और जीवत्व भिन्न पदार्थ नहीं है जो दर्शन ज्ञानमय है, चैतन्य स्वरूप है वह जीव है और उसके स्वभाव को जीवत्व कहते हैं और फिर शंकाकार के मत से तो दूसरे पदार्थ का धर्म दूसरे पदार्थ में आ जाता है क्योंकि इन एकान्तवादियों ने ऐसा कहा है कि सत्ता लक्षण यह है जो द्रव्य गुण पर्याय में सत् प्रत्यय का कारण रूप बनता है उसका नाम सत्ता है। सो यह भी एक कल्पना ही है। यदि सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी सत् प्रत्यय हेतुता द्रव्य, गुण में नहीं किंतु सत्ता में होती है तब द्रव्य गुण असत् ही कहलायें तो जीवत्व के सम्बन्ध से जीव कहलाता है। वह बात किसी तरह नहीं कही जा सकती। जीव स्वयं सत है और उसके परिचय के लिये जीवत्व शक्ति पर्याय यह सब विदित की जाती है। वास्तविकता यह है कि जीवन क्रियाओं से परिणत जो एक द्रव्य है वह जीव है और वह अनादि से है, स्वभावभूत है, सत् है।

द्रव्यों की इयत्ता का नियम—एक शंकाकार यहाँ प्रश्न करता है कि द्रव्य का अस्तित्व तो द्रव्य लक्षण के सम्बन्ध से है, क्योंकि खुद ही ग्रन्थकार आगे सूत्र कहेंगे—'उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तंसत्' तो यह तो हुआ सत् का लक्षण। और उस लक्षण का सम्बन्ध होने से यह कहलाया द्रव्य। फिर उस लक्षण के योग से ही धर्मादिक में द्रव्यपना सिद्ध होता है, फिर इस प्रकृत सूत्र के बनाने से क्या लाभ है ? उत्तर में कहते हैं कि यह सूत्र एक नियम बताने के लिये प्रतिपादित हुआ है। क्या नियम ? कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और आगे कहा जायेगा काल उस समेत ये सब ६ ही द्रव्य हैं। कम या अधिक नहीं हैं। ६ द्रव्यों का मतलब है कि ६ प्रकार के द्रव्य हैं। द्रव्य तो अनन्तानन्त हैं किंतु सभी द्रव्य असाधारण गुण की दृष्टि से ६ प्रकारों में आते हैं। सो द्रव्य ६ ही हैं, अन्य एकान्तवादियों के द्वारा माने गये दिशा आदिक अलग से द्रव्य नहीं हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व द्रव्यमन की एक पुद्गल द्रव्यरूपता व भावमन की आत्मपर्यायरूपता—वैशेषिकों ने ९ द्रव्य माने—(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) मन (६) आत्मा (७) दिशा (८) आकाश और (९) काल। इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये तो पुद्गल द्रव्य ही हैं क्योंकि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला होने से। पुद्गल का लक्षण यह ही है कि जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाये जायें वह पुद्गल है। सो इन चारों में ये चारों ही बातें पाई जाती हैं। भले ही किसी में कोई गुण व्यक्त है, कोई नहीं है, पर हैं सभी में। जैसे वायु में रूप गुण किसी को नहीं मालूम होता, पर वहाँ रूप है, क्योंकि स्पर्श वाला है ये चारों गुण एक साथ ही रहा करते हैं। इन ४ में कोई एक गुण समझ में आये तो समझना चाहिये कि यहाँ चारों ही गुण हैं। भले ही कोई

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहाँ धर्म, अधर्म, गुण, रूप नहीं किंतु गुणी हैं। जो जीव पुद्गल के गमन और स्थिति में निमित्त कारण मात्र है ऐसे पुण्य पाप को यहाँ नहीं बताया जा रहा किंतु सद्भूत धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य कहा जा रहा है, जोकि जीव पुद्गल की गति स्थिति में कारण है। इसी प्रकार आकाश भी तुच्छाभावरूप नहीं है, किंतु वह भी सद्भूत है गुणवान होने से।

सूत्रपद के वचन के प्रयोग का प्रयोजन—इस सूत्र में एक पद है द्रव्याणि, और वह भी बहुवचन है, जिससे यह सिद्ध होता है कि पूर्व सूत्र में कहे गये धर्म अधर्म द्रव्य बहुत हैं, उन्हीं का सामानाधिकरण्य रूप से यह द्रव्य है अर्थात वे सब द्रव्य हैं। यहाँ द्रव्य शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त है। वह अजहल्लिङ्ग है अर्थात अपने लिङ्ग को छोड़ नहीं सकता। द्रव्य शब्द नपुंसकलिङ्ग है सो इससे प्रथमसूत्र में अजीवकाय का सामानाधिकरण होने से पुंलिंग में प्रयोग है। किंतु यहसूत्र नपुंसकलिंग में प्रयुक्त किया गया है। अब यहाँ तक ४ पदार्थों को द्रव्य बताया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल। सो ये चार ही द्रव्य नहीं हैं किन्तु और भी द्रव्य हैं। सो उस अन्य का ग्रहण करने के लिये सूत्र कहते हैं।

जीवाश्च ॥ ५—३ ॥

जीव पदार्थ की स्वसंवेद्यता—और जीव भी द्रव्य है। जीव को द्रव्य मानने और गिन लेने पर अब तक ५ द्रव्यों का वर्णन हुआ। इसके अतिरिक्त काल भी द्रव्य है किंतु अस्तिकाय न होने से इस काल को यहाँ न कह कर आगे किसी अवसर में कहा जायेगा। जो चैतन्य प्राण से जीवे उसे जीव कहते हैं और व्यवहारतः दस प्राणों से जीवे उसे जीव कहते हैं। जीव पदार्थ सभी पदार्थों की भाँति अनादि अनन्त है। कहीं पृथ्वी जल आदिक के संयोग से जीव बना हो ऐसा नहीं है। जीव पदार्थ अमूर्त ज्ञानस्वरूप है, किन्तु इस पर मोह राग द्वेष का आवरण होने से यह अपने आपको नहीं जान पाता है और इन्द्रिय के द्वार से बाह्य पदार्थों को जानता है और इसी कारण अपना बोध न होने से अनेक पुरुषों को जीवतत्त्व की सत्ता के विषय में संदेह रहता है, पर बाह्य पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर, जो जान रहा है, जो जानना हो रहा है उस ही का स्वरूप जानूँ, ऐसे आग्रह से जो अपने स्वरूप में समाधिस्थ होता है वह अपने ही ज्ञान द्वारा अपने को समझ लेता है।

जीवत्व के सम्बन्ध से जीव मानने की कल्पना की असंगतता—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि जीव तो वह है जिसमें जीवत्व का सम्बन्ध हो। यह शंकाकार वह ही है जो द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य मान रहा था। यहाँ विशेष पदार्थ की बात चल रही है। तो जीव को भी जीवत्व के समवाय से जीव मान रहे हैं, किंतु उनका यह कथन सही नहीं है। जैसा द्रव्य और द्रव्यत्व के सम्बन्ध में इससे पहले वर्णन किया है उस तरह जानकर यहाँ भी उसका प्रतिषेध समझ लेना चाहिये। शंकाकार कहता है कि इसमें जीव है ऐसे ज्ञान का कारण तो जीवत्व का संयोग ही है। यदि जीवत्व का सम्बन्ध न होता तो इसे जीव कैसे कहा जा सकता है? तो वह शंकाकर यहाँ यह पूछने योग्य है कि जो प्रत्यय होता है, ज्ञान होता वह किसी अन्य के सम्बन्ध से होता है। यही तो कहा जा रहा है कि जीवत्व के सम्बन्ध से जीव का ज्ञान होता है, तो यह बतलाओ कि जीवत्व के ज्ञान के लिये फिर किसका सम्बन्ध करना चाहिये? क्या जीवत्वत्व का सम्बन्ध जोड़ा जाय? अगर ऐसा मनोगे तो उसमें भी किसका सम्बन्ध होवे? फिर त्व मानते जायें, इस तरह तो अनवस्था दोष होगा, और यदि यह कहा जाय कि जीवत्व का प्रत्यय ज्ञान स्वयं हो जाता है तब यह बात तो न रही कि अन्य के

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शब्द से भी कथन नहीं हो सकता, क्योंकि यह समुदाय है तो अवक्तव्य नहीं और यदि अवक्तव्य है तो समुदाय नहीं। इसका कारण यह है कि जो भी संज्ञा होती है वह विद्यमान पदार्थों में ही होती है। सर्वथा अवक्तव्य अगर कुछ है तो वह स्वरूपरहित ही है। यदि कहो कि वक्तव्य अर्थात गुण है, समुदाय अवक्तव्य है तो यों यहीं लक्षण भेद है। समुदाय का ढंग और है, वक्तव्य का ढंग और है। जब यहीं भेद बन गया तो समुदाय कैसे बन सकता है? शंकाकार की ओर से जो यह प्रस्ताव आया था कि गुणों का समुदाय मात्र को द्रव्य मान लिया जाय सो उनके गुण शाश्वत शक्ति से मतलब नहीं रखते, किंतु काला, पीला, नीला आदिक पर्यायों को भी गुण कहा करते हैं। ऐसे गुण के समुदाय की बात चल रही थी। अब उसी समुदाय विषयक एक बात और कही जा रही है कि रूपादिक परमाणु को समुदायात्मक द्रव्य माना जाय, जैसे कि घट पट आदिक पदार्थ या इन स्कंधों को द्रव्य कहा जाता तो यों रूपादिक परमाणु को मात्र समुदाय द्रव्य है ऐसा मानने पर उस स्कन्ध में कोई नवीन पर्याय की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अणु है अतिन्द्रिय स्वभाव याने इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं होते तो परमाणु अपने स्वभाव का उल्लंघन न करेगा और अदृश्य परमाणुओं का समुदाय कहा गया है स्कन्ध, तब जो कुछ दिख रहा है यह सब भ्रम कहना पड़ेगा। अदृश्यों का समुदाय भी अदृश्य ही रहेगा। यदि स्कंध प्रतीति से भ्रांत माने जाते हैं तो प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षभास में फिर कोई भेद न रहा और अनुमान तथा अनुमानाभास में भी कोई भेद न रह पायेगा।

सर्वथैकांतवाद में द्रव्य के भवनयोग्य लक्षण की अनुपपत्ति—अब शंकाकार कहता है कि हम द्रव्य का लक्षण भव्य अर्थ में मानते हैं याने जो द्रवण के योग्य हो, प्राप्ति के योग्य हो उसका नाम द्रव्य है। उत्तर—एकांतवादियों के यहाँ द्रव्य सम्भव ही नहीं है क्योंकि जब द्रव्य स्वतः असिद्ध है तो असत् में भव्य अर्थ कैसे लग सकता है? वैशेषिकों के यहां द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, ये सब जुदे-जुदे माने गये हैं। जब द्रव्य गुण आदिक से सर्वथा भिन्न हैं तो वह असत् हो गया। गुणरहित पर्यायरहित द्रव्य की चीज क्या रही? जब स्वयं असत् हो गया तो जो होने योग्य है ऐसा कैसे कहा जा सकता? भवन क्रियाओं का कर्ता असत् नहीं बन सकता। जो स्वयं सत् है उसमें समवाय सम्बन्ध की कल्पना करके स्वरूप की कल्पना करना एक विडम्बना है, ऐसा सम्भव ही नहीं है। सो गुण समुदाय द्रव्य है, इस पक्ष में एकांतवादियों का समुदाय काल्पनिक है, गुणों का कोई पृथक स्वरूप है हो नहीं। तो गुण भी असत् द्रव्य भी असत्। वहाँ फिर भवन क्रिया की बात करना तो बिल्कुल ही अनुचित है। हां अनेकांतवादियों के गुण समुदाय द्रव्य हैं या भवन योग्य द्रव्य हैं, यह सब सिद्ध होता है। क्योंकि इसमें कथञ्चित भेद और कथञ्चित अभेद जाना जाता है। अभेद तो है ही क्योंकि इसके प्रदेश अलग नहीं हैं। वही एक सत् है और पर्याय और पर्यायी में संज्ञा लक्षण आदिक से भेद है, इस कारण सूत्र में कहे गए पदार्थ द्रव्य हैं सो उसका अर्थ यही है कि ये सब सत् हैं और गुणपर्यायमय हैं।

धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य की पदार्थता का कथन—यहां कोई ऐसी जिज्ञासा कर सकता है कि धर्म और अधर्म तो आत्मा के गुण हैं। जैसे वैशेषिकों में २४ गुण जो माने गये हैं उनमें धर्म-अधर्म भी गिनाये गये हैं। तो धर्म-अधर्म भी आत्मा के गुण हुये। ये द्रव्य नहीं माने जा सकते। और कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि आकाश भी कोई द्रव्य नहीं है, आकाश के मायने है मूर्त द्रव्यों का अभाव, याने कुछ न होना उसका नाम आकाश है, किंतु उन दोनों को सोचना अविचरित है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

याने दूसरे दीपक के द्वारा कोई दीपक देखा जाय तो वह दीपक ही न रहा, क्योंकि स्वयं प्रकाशक नहीं है ना : जैसे घट, पट आदिक स्वयं प्रकाशक नहीं हैं तो वे दीपक की अपेक्षा रखते हैं। सो कोई भी दीपक किसी अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह स्वयं जल रहा है प्रकाशमान है।

स्वात्मवृत्तिका विरोध करने वालों के स्ववचन विरोध—अच्छा, स्वात्मामें वृत्ति का विरोध करने वाले जरा इस तत्त्व के उपदेष्टा शंकाकार यह बतलायें कि वह उपदेष्टा अपने आपको जानता है या नहीं ? यदि नहीं जानता है तो स्ववचन का विरोध है, क्योंकि उन्हीं वैशेषिकों ने वैशेषिक दर्शन के ६वें अध्याय के पहले बाद के ११वें सूत्र में बताया गया है कि आत्मा में आत्मा मन के संयोग विशेष से आत्म प्रत्यक्षता होती है। तो अपने आप को प्रत्यक्ष जानना माना है ना : किन्तु स्वात्मवृत्ति का विरोध करने वाले लोग जानते हैं और यह नहीं कह सकते, और यदि आत्मा अपने आपको नहीं जानता तो असर्वज्ञपने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि यदि यह अपने को ही नहीं जानता तो अन्य को कैसे जानेगा ? जब स्व पर किसी को भी नहीं जानता तो सर्वज्ञ कैसे कहलायेगा ? अब यदि यह कहा जाय कि आत्मा अपने आप को जानता है तब तो जो पहले यह कहा था कि किसी पदार्थ का अपने आप में व्यापार नहीं होता तो यह कथन गलत हुआ। तब तो यह सिद्ध हुआ कि अपने आप में भी अपने व्यापार का विरोध नहीं है। तब द्रव्यात्मक ही पर्यायें हैं। गुण पर्याय द्रव्य सब एक है। सो ये पर्यायें द्रव्य को लक्षित कर लेती हैं अर्थात प्रतिबोध करा देती हैं।

एकान्तवाद में 'गुणसद्भावः द्रव्यम्' इस लक्षण की अनुपपत्ति—अब शंकाकार कहता है कि द्रव्य तो गुण का समुदाय मात्र है। गुणसमुदाय से भिन्न अन्य कुछ भी द्रव्य नहीं है। इस शंका का समाधान यह है कि किसी दृष्टि में बात तो ठीक है, मगर भेद एकान्त में यह कथन भी बनता नहीं है। जो यह लक्षण कहा गया है भेदवादियों का कि गुणों का समुदाय द्रव्य है, यह बात यों नहीं बनती कि फिर कर्ता कर्म का भेद ही नहीं बन सकता। गुण समुदाय मात्र द्रव्य है, ऐसा कहने पर गुणतो कोई पृथक रहे नहीं और न समुदाय कुछ अलग है। जब कुछ भेद ही न रहा तो कर्ता कर्म भाव को कैसे कहा जा सकता ? शंकाकार कहता है कि नहीं भेद रहा, अभेद में भी तो कर्ता कर्मभाव देखा गया है। जैसे दीपक अपने का प्रकाशित करता है तो यहाँ अभेद होने पर भी कर्ता कर्मभाव प्रकट हुआ है। उत्तर में कहते हैं कि यहाँ पर भी कथञ्चित भेद होना ही चाहिये। दीपक अपने को प्रकाशित करता है, ऐसे कर्ता प्रयोग की हालत में दीपकएक द्रव्य;के स्थानीय है और वह प्रकाश भासुर रूप कर्म के स्थानीय है, सो यदिसर्व प्रकार से इनमें भेद माना जायतो उसका अर्थ यह होगा कि समस्त द्रव्य भासुररूप हो जायेंगे और भासुर द्रव्य सदा भासुर रूप वाला ही बना रहे मगर देखो ना कि जिसको दीपक कहते हैं उसमें कालापन भी आ जाता है। कज्जल आदिक उसी से ही पैदा होते हैं, और सीधी सी बात यह है कि जब गुण और द्रव्य को किसी भी दृष्टि से पृथक नहीं समझा जा रहा है तो उनके समुदाय की कल्पना भी निरर्थक है।

सर्वथा अभेद या सर्वथा भेद में गुण समुदाय की अशक्यता—गुण का अर्थ है विशेषण याने द्रव्य की विशेषता जो बताया उसी का नाम विशेषण है और द्रव्य हुआ विशेष्य। गुणी कहो या द्रव्य कहो तो गुणी के बिना गुणों से गुणपना कैसे आ सकता ? और फिर वह गुणों का समुदाय गुणों से यदि अभिन्न है तो यों तो समुदाय ही रहा या गुणी ? और यदि भिन्न है तो यह गुणों का समुदाय है, यह व्यवहार नहीं बन सकता। और, यदि अवक्तव्य है तो सर्वथा अवक्तव्य होने पर अवक्तव्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो प्राप्य प्रापकभाव बनता है। जैसे देवदत्त ने गांव को प्राप्त किया तो देवदत्त एक पुरुष है, गाँव अपनी जगह है, तो भिन्न सिद्ध है तभी तो पाने की बात बनती है। जब द्रव्य तो ठहरा रहता है और रूपादिक नष्ट होते हैं, पैदा होते हैं तो यही तो सिद्ध हुआ कि द्रव्य और रूपादिक पृथक सिद्ध भये। यदि इनको अभेद माना जाये तो जैसे द्रव्य नित्य है तो ये लाल पीले आदिक गुण भी नित्य होने चाहिये। अथवा जैसे लाल, पीला रंग आदिक गुण अनित्य हैं ऐसे ही द्रव्य भी अनित्य होना चाहिए। अतः यह लक्षण ही ठीक नहीं बैठता कि जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाय सो द्रव्य है या जो गुणों को प्राप्त करता है सो द्रव्य है।

समवायीकारण द्रव्य व गुणों का एकत्र रहने में विरोध—और भी देखिये—जैसे पंडित और मूर्ख में परस्पर विरोध है। जो पण्डित है वह मूर्ख नहीं, जो मूर्ख है वह पण्डित नहीं। इसी तरह समवायी कारण द्रव्य से, रूपादिक को अपृथक माना जायेगा तो वे द्रव्य की तरह न तो उत्पन्न ही होंगे और न विनष्ट ही होंगे। यदि विनष्ट भी होंगे और उत्पन्न भी होंगे और द्रव्य स्थिर रहेगा। तो मानना चाहिये कि यह अभेद नहीं है। भेद रूप से है तब ही तो गुण नष्ट विनष्ट उत्पन्न हुए और द्रव्य ज्यों का त्यों रहा। यहाँ द्रव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार चल रहा है। वास्तविक बात तो यह है कि प्रत्येक सत् द्रव्य है। और ये सब सत् की विशेषतायें हैं कि उनमें गुण और पर्याय की समझ बनती है और इस समझ के द्वारा उस सत् द्रव्य को पहिचाना जाता है पर समझने की पद्धति में अभेद को परमार्थ मान लिया उस शंकाकार ने इस कारण द्रव्य का लक्षण वहाँ मत में ठीक नहीं बैठ रहा। गुण और द्रव्य दो सत् मानकर वहाँ सम्बन्ध बनाना यह सिद्ध नहीं हो पाता। अगर वह अभेद है तो सम्बन्ध नहीं बनता और लक्षण यदि गुण और द्रव्य पृथक हैं तो सम्बन्ध नहीं बनता और लक्षण भी नहीं बनता। गुणों के द्वारा द्रव्य का प्राप्त होना भेदवाद में उसी तरह असम्भव है जैसे कि जैसे घट के द्वारा पट का लाभ नहीं।

सर्वथा भेदभाव में द्रव्य व गुण में प्राप्यप्रापकभाव की असिद्धि—अब शंकाकार कहता है कि प्राप्यप्रापकभाव भेदभाव में ही देखा जाता है। जैसे अनुमान बनाते हैं कि धूम से द्वारा अग्नि पहिचानी गई तो जब यहाँ भेद है तब तो लक्ष्य-लक्षण बना। तो द्रव्यों ने गुण को पाया या गुणों ने द्रव्य को पाया, यह बात तब ही बने जब ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। अभेद में प्राप्यप्रापकभाव नहीं बनता, क्योंकि अभेद है, एक ही हैं तो उसमें वृत्ति का विरोध है। जैसे अगुली का अग्र भाग अपने अग्र भाग को छू नहीं सकता, अंगुली का अग्र भाग दूसरे भाग को ही तो छुवेगा या अन्य पदार्थ को। तो जैसे अंगुली का अग्र भाग अपने आप को नहीं छूता क्योंकि अभेद ही एक है इसी तरह जो भी एक होगा वह एक दूसरे को प्राप्त नहीं कर सकता। शंका के समाधान में कहते हैं कि आप का कहना ही आप की बात को काट रहा है। अग्नि और धूम आदिक भिन्न-भिन्न हैं। उनमें लक्ष्य लक्षण भाव बनता है। वह पृथकसिद्ध है यह तो सही है, पर द्रव्य और गुण की पृथक प्रसिद्धि नहीं है। वे जुदे जुदे सत् नहीं हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न रूप से ये दोनों पाये नहीं जाते और फिर जो यह कहा है कि अपने आपमें अपना व्यापार नहीं होता, सो इसकी भी हठ ठीक नहीं है। अपने आप में भी अपना व्यापार होता है। जैसे दीपक अपने आप को प्रकाशित करता है तो खुद ने खुद पर अपना प्रभाव किया ना! और यह बात बिल्कुल सिद्ध है। सभी पहचानते हैं कि दीपक खुद अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। अगर दीपक अपने प्रकाश करने में अन्य दीपक की मदद ले

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह द्रव्य कहलाता है। इसके सम्बन्ध में समाधान यह है कि गुणों को प्राप्त होना सो द्रव्य है। इसमें यह बतलाओ कि वे गुण द्रव्य से अभिन्न हैं या भिन्न हैं। जिन गुणों को प्राप्त करने वाला द्रव्य है वे गुण और ये द्रव्य ये भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? यदि गुणों से द्रव्य को अभिन्न मानोगे तो यह भी द्रव्य कर्ता है ऐसा कर्ता रूप कर्म से बोल न सकेंगे। अभेद पक्ष में तो कोई बात एक ही होती है, दो नहीं होती, दो हैं तो भेद है, याने गुणों से द्रव्य को अभिन्न मानने पर या तो द्रव्य ही रहेगा या गुण रहेंगे। तो यदि यह कहे कोई कि गुण ही रह जाये तो इसमें क्या आपत्ति है ? तो देखिये निराश्रय गुणों का अभाव हो जायेगा। गुण ही रहे, द्रव्य साथ नहीं तो गुणों का आश्रय तो कुछ रहा नहीं, तो आश्रयरहित गुण कभी होता ही नहीं, गुणों का अभाव हो जायेगा। यदि कहा जाये कि द्रव्य ही रहा आवे अभेद करने में कुछ भी एक बोलना चाहिये ना, चाहे द्रव्य बोले चाहे गुण बोले तो द्रव्य ही बोला जाये वही कहलाता है, तो सुनो। द्रव्य और गुण को अभेद करने पर द्रव्य को ही रहना माना है, गुण रहे नहीं तो गुण से ही तो लक्षण समझा जाता है, गुण से ही स्वभाव जाना जाता है। गुण तो रहे नहीं, एक द्रव्य मात्र ही रहा तो यह लक्षण या स्वभाव के बिना उस द्रव्य का कुछ भी अस्तित्व नहीं रह सकता। सो यदि द्रव्य और गुणों को भिन्न माना जाये याने गुणों को जो प्राप्त करे सो द्रव्य है ऐसे कथन में दो बातें ध्यान में आयीं, गुण और द्रव्य, सो उन्हें अगर भिन्न माना जाये तो गुण के बिना द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है और द्रव्य के बिना गुण की भी सत्ता नहीं है। तो स्वरूपरहित होने से दोनों का ही अभाव हो जायेगा। इस कारण गुणों का संगम द्रव्य है अर्थात् जो गुणों को प्राप्त होवे सो द्रव्य है। द्रव्य का बाहरी लक्षण सही नहीं होता।

जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाय सो द्रव्य है, इस लक्षण की सर्वथा एकांत पक्ष में अनुपपत्ति- यहाँ शंकाकार कहता है कि द्रव्य का लक्षण हम यह करेंगे—जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य कहलाता है। इस शंका का उत्तर बताया है कि गुणों को तो निष्क्रिय माना गया है। वैशेषिक दर्शन में ५वें अध्याय के दूसरे पद में २१वें, २२वें सूत्र में बताया है कि दिशा, काल और आकाश ये निष्क्रिय हैं क्योंकि क्रियावान पदार्थों से विलक्षण है, और इस ही से कर्म और गुण भी निष्क्रिय कहे गये हैं। तो यों जब गुण निष्क्रिय हैं तो वे द्रव्य के प्रति किस तरह से प्राप्त होंगे ? यदि यह कहा जाय कि द्रव्य का लक्षण हम यों कर देंगे कि जो गुणों को प्राप्त करता है वह द्रव्य है सो यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि द्रव्य भी निष्क्रिय है। तो गुणों के प्रति कहे जायेंगे अथवा गुण तो निष्क्रिय माने ही गये हैं। उन गुणों के प्रति द्रव्य कैसे पहुँचेगा ? दूसरी बात यह देखिये कि गुण तो स्वतः असिद्ध हैं। गुण का लक्षण ही नहीं बन सकता। जहाँ भेदवाद है वहाँ तो द्रव्य गुण किसी का भी लक्षण नहीं बनता। तो जब स्वतः सिद्ध नहीं है गुण तो गुण व द्रव्य में प्राप्यप्रापकभाव कैसे बन सकता। कोई भी मनुष्य अगर ग्राम आदिक को प्राप्त होता है तो स्वतः सिद्ध हैं ना ग्राम आदिक तब ही तो उनको प्राप्त होते हैं। गुण तो स्वतः सिद्ध हैं नहीं तो द्रव्य उनको कैसे प्राप्त करेंगे ?

सर्वथैकांतवाद द्रव्य व गुण में प्राप्यप्रापकभाव की असिद्धि—शंकाकार कहता है कि हम गुणों की सिद्धि इस तरह से करते हैं कि जैसे लोक में कच्चे घड़े को पकाने से रंग बदलता है तो वहाँ यह कह सकते हैं कि उस घड़े ने कालेपन को छोड़कर लालपन को प्राप्त किया है। तो लो यों गुणों के द्वारा द्रव्य प्राप्त हो गया। इसका उत्तर यह है कि यदि इस तरह से व्यवहार द्वारा गुण और द्रव्यों की प्राप्ति का सम्बन्ध बन गया तो इसमें पृथक सिद्धपने का प्रसंग आयेगा। जो पृथक सिद्ध हो वही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अमहत् द्रव्यत्व को सर्वव्यापक सिद्ध करने के लिये आकाश का दृष्टान्त देने की असंगतता— यदि शंकाकार ऐसा कहे कि जैसे आकाश अनेक द्रव्यों को व्याप करके रहता है ऐसे ही द्रव्यत्व अनेक द्रव्यों को व्याप करके रहता है। आकाश भी तो नित्य एक निरवयव है और वह सब पदार्थों में व्यापकर रहता है, ऐसे ही द्रव्यत्व भी सब द्रव्यों में व्यापकर रह लेगा सो यह बात यों नहीं बनती कि आकाश तो महापरिमाण वाला है। उसका तो एक साथ अनेक द्रव्यों को व्याप्त करना बन जायेगा, परन्तु द्रव्यत्व सामान्य में यह बात नहीं। एक व महापरिमाण वाला आकाश तो सबको व्यापता है किन्तु गुण तो द्रव्य में रहते हैं तो अमहत् द्रव्यत्व सबको कैसे व्याप सकता है। यदि शंकाकार यह कहे कि एकत्व संख्या के गुण की तरह उपचार से द्रव्यत्व महापरिमाण वाला बन जायेगा सो यह बात यों ठीक नहीं कि यह तो सब असिद्ध के द्वारा ही सिद्ध करने का प्रयास चल रहा है क्योंकि उपचरित पदार्थ मुख्य कार्य नहीं कर सकता। आकाश तो अनन्त प्रदेश वाला है सो प्रदेश भेद होने से आकाश का सर्वत्र वर्तन बनता है। सब द्रव्य उसमें व्याप जाते हैं, किन्तु द्रव्यत्व में तो यह बात नहीं है। अनेक कपड़ों में जैसे रंग भिदाया गया, मानो नीले रंग से कपड़ा रंगा गया तो वहां वह पीला द्रव्य एक नहीं हैं। कपड़े का जितना विस्तार है उसका एक-एक अंश में अलग-अलग रंग पड़ा हुआ है, ऐसे ही द्रव्यत्व का सम्बन्ध बनाया जाये तो द्रव्यत्व सबमें अलग-अलग ही कहलायेगा। वह एक नित्य निरवयव नहीं हो सकता।

भिन्न द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये असंगत वचन बोलने की व्यर्थ माथापच्ची— अब यहां शंकाकार एक तर्क उपस्थित करता है कि जैसे अग्नि की उष्णता सिद्ध करने के लिये कोई दृष्टान्त नहीं मिल रहा, फिर भी यह खूब समझ में है कि अग्नि स्वभाव से उष्ण है, तो दृष्टान्त न मिलने पर भी अग्नि की उष्णता, स्वभाव से है, यह बात माननी पड़ती है, इसी प्रकार एक पदार्थ अनेक जगह रहता है ऐसा सिद्ध करने में दृष्टान्त न भी मिले तो भी एक स्वभाव से सिद्ध समझ लेना चाहिये . तो द्रव्यत्व की बात कही जा रही कि द्रव्यत्व एक है और वह एक होकर निरवयव और नित्य होकर भी अनेक जगहों में उसकी वृत्ति है, पर उसका दृष्टान्त नहीं मिलता सो न मिले दृष्टान्त, तो भी स्वभावत: यह सिद्ध हो जायेगा, जैसे कि अग्नि की गर्मी स्वभावत: सिद्ध हो जाती है. ऐसा शंकाकार का तर्क करना भी असंगत है, क्योंकि दृष्टान्त के अभाव में भी काम सिद्ध होता है, इसको सिद्ध करने के लिये आपने एक दृष्टान्त स्वतन्त्र दिया है इसलिये स्ववचन विरोध है, दृष्टान्त के अभाव में भी सादृश्य सिद्ध होता है इसका निर्णय दृष्टान्त दिये बिना नहीं कर सकते आप, सो ऐसे ही यहाँ युक्ति के अभाव होने पर भी द्रव्यत्व से अनेक की स्थिति मानते हो तो द्रव्य को ही स्वत: द्रव्य क्यों नहीं मान लेते ? समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध तो भिन्न-भिन्न पदार्थों में होता है। शेष तो तादात्म्य है। द्रव्य ही द्रव्यत्व धर्म में तन्मय है फिर समवाय की कुछ आवश्यकता नहीं। संयोग सम्बन्ध में भिन्न पदार्थों का संयोग बनता है और संयोग शब्द से वाच्य संयोग बराबर समझ में आता है, उसकी आदि है, पर द्रव्य में द्रव्यत्व का प्रारम्भ नहीं है कि कब से द्रव्य में द्रव्यत्व आया ? त्रिकाल द्रव्य है, द्रव्यत्व है, वह द्रव्य के ही स्वरूप को द्रव्यत्व कहा है, सो द्रव्य को अनेक का सम्बन्धी मानने का परिश्रम व्यर्थ करते हो, द्रव्य को ही स्वत: द्रव्य क्यों नहीं मान लेते ?

सर्वथा एकान्त पक्ष में "जो गुणों को प्राप्त हो सो द्रव्य है" इस लक्षण की अनुपपत्ति— अब शंकाकार कहता है कि द्रव्य का लक्षण यह है सही गुण संद्राव: द्रव्यं, अर्थात् जो गुणों को प्राप्त हो

http://sahjanandvarnishastra.org/

शुक्ल गुण अलग नहीं है, कपड़ा ही शुक्ल है तो उस अभेद में भी वाला शब्द का प्रयोग हुआ। संस्कृत में कहते हैं इसे मतुप् प्रत्यय, जैसे बुद्धिमान हिन्दी में कहेंगे बुद्धिवाला। तो शंकाकार यह कह रहे हैं कि जैसे शुक्ल पट में शुक्ल गुण के सम्बन्ध से शुक्ल कहा जाता है, वहाँ वाला शब्द का प्रयोग नहीं होता ऐसे ही द्रव्यत्व गुण के सम्बन्ध में यह द्रव्य कहा जायेगा, द्रव्यत्व वाला ऐसा वाला शब्द का प्रयोग न होगा। उत्तर यह है कि शंकाकार का यह समाधान करना निष्फल चेष्टा है, क्योंकि व्याकरण में गुणवाची शब्द से तो मतुप् प्रत्यय का लोप माना है सो शुक्ल पट में मतुप् प्रत्यय बोले बिना ही तो काम चल गया पर यह भी तो समझें कि शुक्ल द्रव्यवाची भी है और गुणवाची भी है। तो द्रव्यवाची होने से वहाँ मतुप् की जरूरत नहीं है, किन्तु यह द्रव्यत्व शब्द गुणवाची नहीं है इसलिये द्रव्यत्व का सम्बन्ध लगाकर मतुप् प्रत्यय बोलना ही पड़ेगा, फिर बोला—द्रव्यत्व वाला। और ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यत्व में से तो हो जाये जो सम्बन्ध के कारण इसलिए झट यह व्यपदेश हो नहीं सकता।

भेदैकान्तवाद में "द्रव्यत्व" शब्द बनने की असंभवता—एक बात यह भी सोचना चाहिये कि द्रव्यत्व शब्द बना कैसे लिया गया है। द्रव्य शब्द से भाव अर्थक त्व प्रत्यय लग ही नहीं सकता, क्योंकि वे यह बतायें कि द्रव्यत्व का भाव द्रव्यत्व है सो वह भाव द्रव्य से क्या अभिन्न है या भिन्न है? यदि भाव द्रव्यों से अभिन्न है तो मायने वह भाव द्रव्य का ही आत्म स्वरूप हुआ। सो अनादि पारिणामिक द्रव्य रूप ही कहलाता है। तो द्रव्य से द्रव्यत्व भिन्न रहा नहीं, फिर द्रव्यत्व के समवाय की कल्पना ही खत्म हो जाती। यदि शंकाकार कहे कि द्रव्य का भाव द्रव्य से भिन्न है तो वह द्रव्य का कैसे कहा जा सकता? द्रव्य से भिन्न अनेक पदार्थ पड़े हैं, लेकिन वे एक द्रव्य के तो न कहलायेंगे। जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं उन्हें यह नहीं कहा जा सकता कि यह इसकी चीज है, और भी समझिये। जिस प्रकार द्रव्य का भाव द्रव्यत्व माना जाता है तो द्रव्यत्व का भी भाव होना चाहिये। यदि उसमें एक त्व और लगा दिया जाये 'द्रव्यत्वत्व' फिर उसका भी भाव तो यों त्व लगाते जाइये, उसका कहीं विराम ही न हो पायेगा, अनवस्था दोष आता है। यदि कोई कहे कि द्रव्यत्व का कोई भाव नहीं होता इस कारण एक त्व लगाने की जरूरत नहीं। तो जिसका कोई भाव नहीं है वह तो स्वभाव शून्य कहलायेगा। द्रव्यत्व का भाव नहीं तो द्रव्यत्व भी कुछ न रहा। स्वभाव शून्य होने से द्रव्यत्व का अभाव हो जायेगा।

नित्य एक निरवयव द्रव्यत्व का पृथिवी जल आदिक सब पदार्थों में सम्बन्ध की असिद्धि—अब शंकाकार यह बतलाये कि जिस द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य कहा जा रहा है वह द्रव्यत्व शंकाकार ने माना नित्य एक निरवयव, तो वह द्रव्यत्व अनेक पृथ्वी आदिक में कैसे रह सकता है? द्रव्यत्व एक है और वह पृथ्वी में भी है, जल में भी है। तो पृथ्वी पड़ी किसी जगह, जल है दूर। पत्थर में है, आदमी में है। तो ये भिन्न-भिन्न पदार्थों में एक द्रव्यत्व कैसे रह सकता। द्रव्यत्व कहीं टूट तो न जायेगा कि बीच में द्रव्यत्व न रहा। तो द्रव्य एक नित्य पृथ्वी आदिक में सम्भव नहीं। पृथ्वी आदिक में माना ही है कि द्रव्यत्व तो एक है पर वह कहलाता है समस्त पदार्थों में तब तो वह रूप आदिक की तरह द्रव्यत्व भी अनेक बन जायेगा। जैसे पृथ्वी में जो रूप है वह पृथ्वी का है, जल में जो रूप है वह जल का है, ऐसे ही पृथ्वी में द्रव्यत्व पृथ्वी का है, पत्थर आदिक में द्रव्यत्व पत्थर आदिक का है, काठ में द्रव्यत्व काठ आदिक का है। तो यों द्रव्यत्व अनेक तरह का हो जायेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में ही रहता है, अन्य में नहीं रहता, और वह विशेषता है आधार। द्रव्यत्व का आधार द्रव्य है इस कारण द्रव्यत्व का समवायी कारण द्रव्य रहा। इसका समाधान यह है कि द्रव्य में द्रव्य का आधार यह शंकाकार सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि द्रव्य स्वतः सिद्ध ही नहीं। जो स्वतः सिद्ध हो वही तो किन्हीं आधेयों का आश्रय हो सकता है। जैसे जल आदिक का आश्रय घट है तो घट कोई चीज है तो वहाँ जल आधेय हो गया, ऐसे ही द्रव्यत्व कोई वस्तु नहीं है तो द्रव्यत्व का आधार कैसे बन जायेगा? तो द्रव्यत्व बिना द्रव्य क्या चीज रही? और अगर द्रव्यत्वमय है तो फिर द्रव्यत्व के सम्बन्ध की कल्पना ही क्यों करते? तो जैसे आधार कह रहे शंकाकार उसका सिद्धि ही नहीं कर सकते, फिर द्रव्यत्व का आधार कैसे बनेगा?

भिन्न-भिन्न द्रव्य व द्रव्यत्व की कल्पना करने वालों के "द्रव्य" शब्द बोलने का भी अशक्यपना—अब दूसरी बात सुनो कि यह शंकाकार 'द्रव्य' इतना शब्द भी नहीं बोल सकता, क्योंकि द्रव्यत्व अलग है, द्रव्य अलग है तो द्रव्यत्व के बिना अन्य कुछ भी द्रव्य कैसे कहा जा सकता है? तो जो लोग द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य मानते हैं उनको तो द्रव्य शब्द बोलना भी न चाहिये, बोला ही न जा सकेगा। कैसे? सो सुनो—उसको द्रव्य कैसे कहते हैं? द्रव्यत्व का अभेद है इस कारण द्रव्य कहते हो या द्रव्यत्व तो द्रव्य से भेद रूप से रहता है। इन दो पक्षों में से क्या स्वीकार करते हो? यदि कहो कि द्रव्यत्व का द्रव्य में अभेद है और उससे द्रव्य नाम पड़ गया है तो सुनो—यदि किसी अन्य के सम्बन्ध से, द्रव्यत्व के सम्बन्ध से वहां द्रव्य नाम बोलते हो तो सम्बन्ध होने से द्रव्यत्व नाम कहो, द्रव्य नाम क्यों कहते? जैसे लाठी से सहित पुरुष लाठी वाला कहा जाता है ऐसे ही द्रव्यत्व से सहचरित कुछ भी 'द्रव्यत्व' इस नाम से कहा जाना चाहिये। 'द्रव्य' इस शब्द से न कहा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में शंकाकार यदि ऐसा कहे कि द्रव्यत्व शब्द का वाच्य जैसे द्रव्यत्व है ऐसे ही द्रव्यत्व का वाच्य द्रव्य भी है। तब द्रव्यत्व के सम्बन्ध से उसे द्रव्य का भी व्यवहार हो सकता है। ऐसा कहना शंकाकार का यों युक्त नहीं है कि यदि द्रव्यत्व की द्रव्य संज्ञा स्वतः मान ली गई तो द्रव्य को स्वतः मानने में क्यों असंतोष होता है याने यह संज्ञा स्वतः मान लेना चाहिये। यदि किसी अन्य पदार्थ के सम्बन्ध से 'द्रव्य' यह नाम माना जाये तो फिर वह ही दोष आयेगा, जैसे कि अब तक देते आये हैं। वह अभेद है या भेद है, दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती है। फिर एक बात और भी सोचो कि द्रव्यत्व का वाच्य द्रव्य नाम माना शंकाकार ने और द्रव्यत्व भी माना, तो जैसे 'द्रव्य' इस संज्ञा की हठ कर रहे हैं ऐसे ही उसे द्रव्यत्व भी क्यों नहीं बोल डालते।

द्रव्य व द्रव्यत्व का व्यपदेश भेद मूलक मानने की आरेका का समाधान—अब यदि शंकाकार भेद मूलक व्यपदेश माने अर्थात् जैसे लाठी वाला ऐसा कहने में लाठी अलग मालूम होती है और लाठी वाला पुरुष अलग मालूम होता है। इस शब्द से दो का ज्ञान होता है कि ये जुदे हैं पुरुष और लाठी, फिर सम्बन्ध से लाठी वाला कहा। तो ऐसा भेद मूलक अगर द्रव्य संज्ञा मानते हो तो उसे द्रव्य न कहना चाहिये किन्तु द्रव्यत्व वाला। जैसे लाठी के सम्बन्ध से लाठी वाला कहा जाना चाहिये। 'द्रव्य' यह न कहा जाना चाहिये, यदि शंकाकार यह समाधान देने का प्रयत्न करे कि जैसे शुक्ल गुण के सम्बन्ध से कपड़ा भी शुक्ल कहा जाता, शुक्लवान कोई नहीं कहता, यह कपड़ा शुक्ल है। ऐसा कोई नहीं कहता कि यह कपड़ा शुक्ल वाला है। तो जैसे शुक्ल गुण के योग से कपड़े को भी शुक्ल कहा जाता वहां वाला साथ में कोई नहीं लगाता और है वहाँ भेद। कपड़ा अलग नहीं है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनके खण्ड करना, विभाग बनाना यह कहाँ का न्याय है।

भिन्न माने गये द्रव्यत्व का गुण कर्म सामान्य आदि सब में सम्बन्ध होने का प्रसंग— और भी देखिये – द्रव्यत्व सामान्य सर्वगत है, ऐसा शंकाकार ने माना है। अतः यदि अतदात्मक द्रव्य में वह द्रव्यत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है तो गुण और सामान्य आदिक में भी द्रव्यत्व को समवाय सम्बन्ध से रह जाना चाहिये, याने द्रव्य अलग है, द्रव्यत्व अलग है, तो इसके मायने यह ही तो हुआ कि द्रव्य द्रव्यमय नहीं है। तो जो द्रव्यत्वमय नहीं है ऐसा द्रव्य में द्रव्यत्व का तो समवाय सम्बन्ध बन जायेगा और द्रव्यत्वमय गुण भी नहीं है। कर्म भी नहीं है, उनमें द्रव्यत्व का सम्बन्ध न बने, इसका कारण तो बताये कोई। याने द्रव्यत्व का सम्बन्ध द्रव्य में ही क्यों होता है ? द्रव्य का सम्बन्ध गुण आदिक में क्यों नहीं हो जाता, जब कि द्रव्यत्वमय नहीं, गुण भी द्रव्यत्वमय नहीं है। तो द्रव्यत्व का सम्बन्ध जुटाने के लिये द्रव्य और गुण एक ही समान हो गए। यदि शंकाकार यह कहे कि द्रव्य तदात्मक है याने वह द्रव्यत्वमय है इस कारण द्रव्य में ही द्रव्यत्व का समवाय होता है तो उत्तर यह है कि जब द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले द्रव्य तादात्मक रहा, द्रव्यत्वमय रहा तो अब द्रव्यत्व के समवाय की कल्पना करना बिल्कुल निरर्थक है।

भिन्न द्रव्यत्वका समवायी कारण द्रव्य को मानने की असिद्धि—अब शंकाकार कहता है कि द्रव्यसमवायी कारण है इस कारण द्रव्यत्व का समवाय द्रव्य में ही होता है, गुण में नहीं, खरविषाण आदिक असत् में नहीं। उत्तर यह है कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले जब द्रव्य का कोई स्वरूप ही न बना तो फिर द्रव्य का समवायी कारण कैसे कहा जा सकता ? यदि स्वरूपरहित द्रव्य समवायी कारण माना जाय तो खरविषाण आकाश पुष्प आदिक को भी समवायी कारण क्यों नही माना जाता ? क्योंकि जब स्वरूप नहीं है तो उसका कुछ तथ्य भी नहीं है, कदाचित यह शंकाकार कहे कि खरविषाण आदिक तो असत् हैं, गधे का सींग कुछ है ही नहीं, तो असत् होने से वह समवायी कारण नहीं हो सकता। तो अर्थ इसका यह है कि असत् तो शंकाकार का द्रव्य भी है क्योंकि उनके सिद्धांत में द्रव्य स्वयं असत् नहीं, किंतु सत्ता के समवाय से असत है। जैसे यहां द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य बता रहे हो ऐसे ही सत्ता के समवाय से उसको सत् बताया था। तो जब सत्ता का समवाय नहीं है उस स्थिति में द्रव्य असत ही तो रहा, सो यही समस्या यहाँ रहती कि द्रव्य असत् है तो वह द्रव्य का समवायी कारण कैसे हो सकता ? सारांश यह है कि कुछ भी कारण सोचें जिस कारण से द्रव्यत्व का द्रव्य ही समवायी कारण माना जाये, गुण कर्म आदिक न माने जायें तो जिस कारण से द्रव्य का समवायी कारण माना उस ही कारण से यह क्यों नहीं मान लेते कि द्रव्य का निज स्वरूप ही आत्मा है याने द्रव्यत्वमय द्रव्य है। द्रव्य के धर्म को द्रव्यत्व कहते हैं और उस ही द्रव्य स्वरूप से द्रव्यों का व्यवहार होता है। क्यों इतनी टेढ़ी लाइन चलते जा रहे हैं कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य होता है और फिर एक झूठ को ठीक करने के लिये साथ में ५० झूठ बोले जायें ? तो सीधा ही मान लेना चाहिये कि द्रव्य का यह स्वरूप अनादि है। पारिमाणिक है, द्रव्य से बाहर कोई द्रव्यत्व नाम का तत्त्व नहीं है कि जिसके सम्बन्ध से इसको द्रव्य कहा जाये।

द्रव्य को द्रव्यत्व का आधार बताकर द्रव्य को समवायी कारण मानने की कल्पना की निरर्थकता—शंकाकार कहता है कि द्रव्य एक ऐसी विशेषता है कि जिसके कारण द्रव्य ही द्रव्यत्व का समवायी कारण होता है। गुण कर्म आदिक समवायी कारण नहीं होते और इसी वजह से द्रव्यत्व

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ऐसे ही गुण और कर्म भी स्वतन्त्र पदार्थ हैं। गुण और पर्यायों को पाने से द्रव्य कहलाये सो बात नहीं, किंतु द्रव्यत्व के सम्बन्ध द्रव्य से कहलाता है, तो उसमें पर्याय की कोई बात नहीं आती। अब इस शका के समाधान में कहते हैं कि उक्त शंका ठीक नहीं है, उसका कारण यह है कि द्रव्यत्व के सम्बंध से द्रव्य कहलाता है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। हाँ यह तो सिद्ध हो लेगा कि दण्ड के सम्बन्ध से पुरुष दण्डी कहलाता है। दण्डी में सम्बन्ध तो सिद्ध इस कारण होता है कि डण्डे का जब तक सम्बंध न हुआ था तब तक भी वह देवदत्त था और डण्डा जुदा था। दण्डा अपने स्वरूप से है, देवदत्त अपने स्वरूप से है और अपने-अपने स्वरूप से स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ हैं। इनका संयोग हो गया तो देवदत्त दण्डी कहलाने लगा, पर इस तरह द्रव्यत्य के सम्बन्ध से पहले द्रव्य पाया नहीं जाता।

द्रव्य और द्रव्यत्व को भिन्न मानने और फिर सम्बन्ध बनाकर व्यवहार बनाने की अटपट कल्पनाओं का चित्रण—शंकाकार ही बताये कि द्रव्यत्व का सम्बन्ध जब द्रव्य में हुआ तो उससे पहले द्रव्य पाया गया या नहीं? यदि यह कहो कि द्रव्यत्य के सम्बन्ध से पहले भी द्रव्य है तब द्रव्यत्व का सम्बन्ध हुआ तो सम्बन्ध से पहले भी जब द्रव्य है तो अब सम्बन्ध की जरूरत ही क्या रही? सम्बन्ध की कल्पना अनर्थक है। तो द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहलें द्रव्य नहीं है और द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले द्रव्यत्व भी नहीं है क्योंकि द्रव्य के सम्बन्ध बिना द्रव्यत्व नाम कैसे बोलेंगे? वह चीज क्या है? तो जो यहाँ माने कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य कहलाता है तो उसके यहाँ न द्रव्य सत् रहेगा और न द्रव्यत्व सत् रहेगा, तो इस प्रकार असत् का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है, और कथञ्चित मान लो कि द्रव्य और द्रव्यत्व ये सम्बन्ध से पहले भी सत् हैं तो जब ये अलग-अलग पड़े हुये हैं तब द्रव्य में द्रव्यत्व की शक्ति नहीं है। द्रव्यत्व में द्रव्यत्व की शक्ति नहीं है। सम्बन्ध से पहले कदाचित सत् भी मान लें तो वे दोनों शक्तिहीन ही रहे। तो जब यह स्वयं शक्तिहीन है तो इसका सम्बन्ध होने पर भी उत्पादन शक्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि जन्म के अन्धे दो पुरुष हैं तो वे अलग-अलग कुछ देख नहीं सकते और उनको इकट्ठे भी बैठाल दिया जाये तो भी वे देख न सकेंगे, क्योंकि उनमें देखने की शक्ति है ही नहीं, तो मिलकर भी शक्ति कहाँ से आयेगी? ऐसे ही द्रव्य और द्रव्यत्व में जब शक्ति नहीं है तो दोनों का सम्बन्ध होने पर भी वह व्यवहार न बन सकेगा। वह उत्पाद न बन सकेगा, याने द्रव्यत्व बना पड़ा हुआ द्रव्य द्रव्यपने का काम कैसे कर सकेगा? द्रव्य के बिना पड़ा हुआ द्रव्यत्व अपने द्रव्यपना का क्या व्यवहार बना सकेगा? यदि द्रव्यत्व के सम्बन्ध के पहले भी द्रव्य अपने में द्रव्य का व्यवहार करा सके तो सम्बन्ध की अवश्यकता ही क्या रही और द्रव्यत्व की कल्पना ही निरर्थक रही।

द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले असत् रहे द्रव्य व द्रव्यत्व में सम्बन्ध मानने का अज्ञानमय दुराग्रह—द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले यदि द्रव्य सत् स्वरूप भी होता तो द्रव्यत्व का सम्बन्ध मानना उचित होता, किंतु द्रव्य स्वतः सत् भी तो नहीं है, क्योंकि इन शंकाकारों ने द्रव्य को सत् सत्ता के समवाय से माना है। अब द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पहले द्रव्य सत् है ही नहीं, असत् रहा तो उस असत् में सत्ता का समवाय भी कैसे पहुँच जायेगा? अगर असत् में सत्ता का समवाय होने लगे तो जो असत् कल्पित है खरविषाण आकाश पुष्प इनमें भी सत्ता का समवाय सम्बन्ध हो जाना चाहिये। तो लो कितनी विडम्बना है। सत् अलग है, द्रव्य अलग है, द्रव्यत्व अलग है। उनके सम्बन्ध से फिर पदार्थ का व्यवहार है। कितने आश्चर्य की बात है। सीधा जैसा वस्तुस्वरूप है वैसा न मानकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, यहआकाश एक है और पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्तहैं। और शेष के जीव द्रव्य भी अनन्तानन्त हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं और इस लक्षण में कि जो स्व पर निमित्तक उत्पाद व्यय की पर्यायों से चलता रहे उसे द्रव्य कहते हैं।

पर्यायोत्पाद की स्वपर प्रत्ययकता—यहाँ एक यह सिद्धांत आया कि उत्पाद व्यय स्वपरप्रत्ययक होता है। स्व प्रत्ययक के मायने स्वयं की शक्तियों से होता है, पर प्रत्ययक के मायने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार होता है। तो पर प्रत्यय तो कहलाया द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप बाह्य प्रत्यय और स्व प्रत्यय कहलाया अपने आप का सामर्थ्य। कभी बाह्य पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी मिले और पदार्थ में स्वयं में वह पर्याययोग्यता नहीं, तो उस रूप परिणमन नहीं होता। पदार्थ में पर्याय योग्यता है किंतु परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि न मिलें तो परिणमन तदनुरूप नहीं होता। दोनों हो का जब योग होता है तो पर्यायों का तदनुरूप उत्पाद व्यय होता है। एक के अभाव में उस प्रकार का कार्य नहीं होता जैसे उड़द कोठी में रखे हैं। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का योग नहीं है पकने का तो वह नहीं पकता है। भोजन बनता नहीं है। और जो कुरडू उड़द है वह २४ घन्टे भी पानी में पकाने को रखा जाय तो भी पकता नहीं है। पकने के योग्य उर्दों में योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न रहा और अग्नि पानी आदिक का संयोग मिलने पर भी कुरडू उड़द को पकाने में समर्थ नहीं है इसी प्रकार स्व और पर के हेतु से होने वाले उत्पाद व्ययों रूप अपनी-अपनी पर्यायों से जो जाते हैं, पर्यायों को प्राप्त होते चलते हैं उन्हें द्रव्य कहते हैं।

पर्याय की द्रव्य से अपृथक्ता—यहाँ द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न नहीं हैं फिर भी भेद विवक्षा करके कर्ता और कर्म का निर्देश किया गया है अर्थात पदार्थ अपनी पर्यायों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ द्रु धातु से द्रव्य शब्द बना है। य प्रत्यय लगा है, जिसका अर्थ है द्रवति, गच्छति इति द्रव्यं। अर्थात उत्पाद विनाश आदिक अनेक पर्यायों के होते रहने पर भी जो संतति से, द्रव्यदृष्टि से गमन करता जाय मायने तीनों काल में रहे उसे द्रव्य कहते हैं। अथवा द्रव्य का भव्य अर्थ में भी भाव समझना चाहिये। अर्थात जो पर्यायों रूप हो सके उसे द्रव्य कहते हैं। होता ही है पर्यायोंरूप। जैसे कोई सीधी लकड़ी बढ़ई के प्रयोग से टेबुल, कुर्सी आदिक अनेक आकारों को प्राप्त होती है उसी प्रकार द्रव्य भी स्व और पर प्रत्ययों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है। द्रु नाम लकड़ी का भी है। उसकी तरह जो अनेक पर्यायोंरूप होता रहे उसको द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य होने के सिद्धान्त की मीमांसा—यहाँ शंकाकार कहता है कि द्रव्य शब्द का जो अर्थ बताया और यह सिद्ध किया कि कोई एक पदार्थ है और वह अनेक पर्यायों को प्राप्त होता रहता है, सो यह ठीक जचता नहीं है कि उसमें पर्यायें होती हैं, और इस कारण से उसका नाम द्रव्य रखा गया है। किंतु यह मानना चाहिये कि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य कहलाता है। जैसे डण्डे के सम्बन्ध से कोई पुरुष डण्डी कहलाता है। छतरी के सम्बन्ध से कोई पुरुष छतरी वाला कहलाता है। ऐसे ही द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य कहलाता है। द्रव्यत्व सामान्यरूप भी है। पृथ्वी आदि पदार्थों में द्रव्य, द्रव्य ऐसा ज्ञान और शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसमें वे पृथ्वी आदिक भी द्रव्य विशेष हैं और चूंकि पृथ्वी आदिक सभी में द्रव्य शब्द का प्रयोग होता है तो द्रव्य सामान्य भी है और वह द्रव्य, गुण और कर्म से जुदा है। द्रव्यत्व के योग से द्रव्य कहलाता है, न कि पर्याय को पाने से द्रव्य कहलाता है यहाँ शंकाकार का यह अभिप्राय है कि द्रव्य जैसे स्वतन्त्र पदार्थ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि यह तो है ही पहले से तो अब यहाँ आधार आधेय की कल्पना हो गई। तब एवं भूतनय से देखा तो यह लोकरचना अनादि से पारिणामिक है, स्वयं है, किसी के द्वारा की गई नहीं है, वहाँ आधार आधेय भाव नहीं है, व्यवहार में तनु वात वलय का आधार आकाश को माना है और आकाश को स्वप्रतिष्ठित माना है। वहाँ यह शंका नहीं की जाना चाहिये कि फिर तो आकाश का आधार भी अन्य बताया जाना चाहिये। फिर उस आकाश का जो आधार हो उसका भी आधार कोई अन्य आकाश होना चाहिये। और इस तरह आधार आधेय भाव के निरखने में सर्वथा दोष हो जायेगा। सो यह शंका यों ठीक नहीं कि आकाश तो सर्वव्यापी है और अनन्त है, उसमें अन्य आधार की कल्पना नहीं बनती। जो सर्वगत न हो, जो अत्यन्त सत् हो, जो मूर्तिमान हो, जिसमें अवयव हो, ऐसे पदार्थ में ही अन्य आधार की कल्पना हो सकती है। तो द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखा जाए तो सभी द्रव्य अपने-अपने आधार में है। अनादि से ही आकाश है, अनादि से ही सब द्रव्य हैं, और सब द्रव्यों के समूह का नाम लोक है इसलिए वहां आधार आधेय की कल्पना नहीं बनती, पर पर्याय दृष्टि में व्यवहार में आधार आधेय भाव है। तो व्यवहार से भी आकाश अन्य आकाश के आधार हो, यह बात नहीं है, क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है, इस कारण से उसका आधार नहीं कहा जा सकता।

जीवद्रव्य व कालद्रव्य की वक्ष्यमाणता का संकेत—इस सूत्र में काल द्रव्य का नाम नहीं लिया गया। काल अजीव पदार्थ है और अजीव का इसमें वर्णन चल रहा, पर काल का नाम यहां इस कारण नहीं दिया कि वह अस्तिकाय नहीं है। छह द्रव्य बताये गये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। इस सूत्र में जीव का भी नाम नहीं है क्योंकि अजीवकाय के ही नाम इस सूत्र में लिये गये हैं। जीव तो अजीव नहीं है और काल का भी नाम नहीं है, क्योंकि काल अस्तिकाय नहीं है। इसका लक्षण आगे बताया जायेगा और वहां ही यह भी दिखाया जायेगा कि काल द्रव्य एक प्रदेशी है, इस कारण अस्तिकाय नहीं है। इस तरह इस प्रथम सूत्र में अजीव होते हुए जो अस्तिकाय हैं उनका वर्णन किया। इस अध्याय में वर्णन तो किया जाना है सभी द्रव्यों का, पर सूत्र विधि के अनुसार इस तरह वर्णन चल रहा है कि सूत्र में शब्द अधिक न बोले जायें और कम शब्दों से सूत्र बनकर सबका अर्थ आ जावे, उस नीति के अनुसार यहां अजीव कायों का वर्णन किया है। अब जो जीव और काल शेष रह गये उनका वर्णन समय पाकर होगा। अब इस समय यह एक जिज्ञासा होती है कि पहले अध्याय में एक सूत्र आया था —"सर्व द्रव्य पर्यायेषु केवलस्य।" अर्थात केवल ज्ञान का विषय समस्त द्रव्य और समस्त पर्याय है। तो उसमें द्रव्य शब्द बताया गया तो वह द्रव्य चीज क्या कहलाती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सूत्र कहते हैं—

द्रव्याणि ॥५–२॥

द्रव्य का स्वरूप—प्रथम सूत्र में जो ४ पदार्थ बताये गये वे सब द्रव्य हैं। द्रव्य तो जीव और काल भी हैं मगर सूत्र नीति के अनुसार इन ४ को द्रव्य कह दिया और जीव को इसके आगे बतायेंगे कि द्रव्य है और काल का भी वर्णन यथा समय किया जायेगा। यहाँ इस सूत्र में धर्म, अधर्म आकाश और पुद्गल ये द्रव्य हैं जिनका वर्णन ऊपर के सूत्र में किया गया है वे सब द्रव्य हैं। द्रव्य कहते किसे हैं ? अपने और पर पदार्थों के निमित्त से जो उत्पाद व्यय की पर्यायों से चलता रहे उसको द्रव्य कहते हैं। जो शाश्वत है, सदा काल रहने वाला है और अनेक पर्यायों में से चलता रहता है उस एक शाश्वत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्य अनन्त हैं इस कारण यहाँ बहुवचन शब्द दिया है। धर्म

http://sahjanandvarnishastra.org/

में स्वयं निमित्त होते हैं। जीव का पुद्गल उन द्रव्यों को प्रेरणा नहीं देते। इस सूत्र में चार द्रव्यों के नाम दिये गये हैं। तो पहले-पीछे जैसे नाम दिये गये हैं उनका कारण है। तो सबसे पहले धर्म का नाम दिया है। तो धर्म शब्द की लोक में बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है, इस कारण सूत्र में धर्म का पहले नाम दिया, इसके बाद अधर्म का नाम लिया। सो एक तो धर्म का प्रतिपक्षी शब्द है इस कारण बाद में नाम दिया, दूसरा दोष यह है कि धर्म द्रव्य के कारण इस लोक में पुरुषाकार आकृति व्यवस्थित रहती है इस कारण अधर्म का उसके बाद नाम दिया है। यदि अधर्म द्रव्य न माना जाता तो जीव और पुद्गल अलोकाकाश में भी पहुँचता, तब लोक का कोई आकार न रहता। इस कारण जो कि लोकालोक के विभाग का कारण अधर्म द्रव्य का रहना है इससे अधर्म द्रव्य को धर्म के बाद कहा है फिर आकाश द्रव्य को कहा, क्योंकि धर्म-अधर्म के द्वारा ही आकाश का विभाग बनता है। यह लोकाकाश है और यह अलोकाकाश है और यह अलोकाकाश है। जहाँ तक धर्म अधर्म द्रव्य है वह लोक है, और इसके बाद अलोक है, और फिर अमूर्त होने से आकाश में धर्म अधर्म के साथ सजातीयपना है, इसके अन्त में पुदगल का ग्रहण पारिशेष न्यायक है और फिर आकाश में पुद्गल अवकाश पाते हैं जो कि स्पष्ट है इसलिए आकाश के पास पुद्गल का नाम रखा।

आधार होने के कारण आकाश शब्द को सूत्र में नामों में सर्वप्रथम कहने की आरेका का समाधान—यहाँ शंकाकार कहता है कि सूत्र में नामों में सर्वप्रथम आकाश का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि धर्म-अधर्म और पुद्गल ये सभी आकाश में ही तो रहते हैं, सबका आधार आकाश है। अतः आकाश का ही प्रथम ग्रहण उचित था। इसका समाधान करते हैं कि निश्चय से देखा जाये तो किसी भी द्रव्य का आधार कोई दूसरा द्रव्य नहीं होता। समस्त लोक के अतिरिक्त समस्त द्रव्यों की रचना अनादि से है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप सत् है। इसमें आधार आधेय भाव या कुछ पहले, कुछ बाद यह रंच भी नहीं है, क्योंकि जब किसी द्रव्य की आदि नहीं तो यह कैसे कहा जा सकेगा कि यह आधार है यह आधेय है? जिनकी आदि होती है उनका ही आधार आधेय पहले ये बातें उसमें सिद्ध होती हैं। जैसे बर्तन और दूध। तो दूध की आदि है, अब निकलता है तो कहेंगे कि बर्तन तो आधार है और दूध आधेय है। बर्तन पहले है, दूध बाद में है। तो वहाँ तो यह बात सम्भव होती है मगर जहां सभी पदार्थ अनादि से हैं वहाँ कैसे बताया जा सकता कि यह तो आधार है और यह आधेय है? भले ही आगम में लिखा है कि घनोदधि वातवलय तनुवात वलय के आधार हैं, तनु वात वलय आकाश के आधार है, और आकाश अपने आपके आधार है। ऐसा इसी मोक्ष शास्त्र के तृतीय अध्याय में सर्वप्रथम सूत्र में कहा गया है। सो इसका भी विरोध नहीं है, और प्रत्येक द्रव्य अपने आपके आधार है, इसका भी विरोध नहीं, उसका कारण यह है कि आधार आधेय भाव का सर्वथा निषेध नहीं है और सर्वथा विधान नहीं है, किन्तु जब द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से देखते हैं तो वहाँ सभी द्रव्य अपने-अपने आधार विदित होते हैं। सो द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में आधार आधेय भाव नहीं है, फिर भी पर्यायार्थिकनय की प्रधानता में आधार आधेय भाव है। इस प्रकार व्यवहारनय से आकाश को आधार कहते, अन्य द्रव्य को आधेय कहते।

वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य का स्वयं स्वयं में ही आधाराधेय भाव—द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता किस तरह है? छहों द्रव्यों में पर्याय दृष्टि से आदि विदित होता है क्योंकि पर्यायें नई-नई अपने समय में उत्पन्न होती रहती हैं। तो पर्याय की दृष्टि में तो जब आदि हो गई और आकाश को देखा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अथवा पांचों ही अस्तिकायों में बहुप्रदेशपना है, अर्थात् जब बहुप्रदेशपना सिद्ध हो गया तब ही तो असंखेया: आदिक सूत्र से उसके प्रदेशों का अवधारण बन सकेगा। इन पदार्थों में असंख्यात ही प्रदेश हैं। न संख्यात हैं और न अनन्त हैं, क्योंकि पहले सामान्यतया विधिपूर्वक अवधारण तो बन जाये कि यह द्रव्य बहुप्रदेशी है, अस्तिकाय है, फिर तो आगे के सूत्र उनकी गणना बतायेंगे। साथ ही फिर यह जानना कि काल द्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है। सो काल द्रव्य के अस्तिकायपना का निषेध करने के लिये इस सूत्र में काय का ग्रहण करना बिल्कुल उपयुक्त है, क्योंकि काल द्रव्य एक प्रदेशी है और इसीलिए द्वितीय आदिक प्रदेश न होने के कारण अप्रदेशी भी कहते हैं। तो सामान्यतया सर्वप्रथम अस्तिकाय के द्रव्यों को कायपना सिद्ध करने के लिये इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण किया गया है। आगे अभी तीसरा सूत्र आयेगा—जीवाश्च, सो वह भी अस्तिकाय है। यह सिद्ध हो ही जायेगा।

सूत्रोक्त धर्म, अधर्म आदिक शब्दों के वाच्य का निर्णय—अब यहां धर्मादिक द्रव्यों के विषय में यह जानना कि वे जो नाम धरे गये हैं सो वे रूढ़ शब्द हैं। आगम में दो शब्दों से उन द्रव्यों का बोध कराया गया है, अथवा यदि व्युत्पत्ति पूर्वक देखें तो इन संज्ञाओं का अर्थ भी ठीक बैठता है। जैसे धर्म का अर्थ है जो धारण करे सो धर्म। क्या धारण करे? स्वयं क्रिया परिणत जीव और पुद्गल को जो साचित्य धारण करे अर्थात् सहायक हो वह धर्म है। तो इसी प्रकार स्थिति में जो साचित्य धारण करे सो धर्म द्रव्य है। आकाश का शब्दार्थ है कि जहाँ पर जीवादिक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों के साथ प्रकाशमान हो जो खुद भी अपने को प्रकाशित करे वह आकाश है। या यह अर्थ कर लिया जाये कि जो अन्य सब द्रव्यों को अवकाश दान दे वह आकाश है। यहाँ कोई यह जिज्ञासा कर सकता है कि लोकाकाश में तो अन्य द्रव्यों का अवगाह है नहीं फिर वहां आकाश का लक्षण कैसे घटित होगा, तो उसका उत्तर दो तरह से समझें। एक तो शक्ति की दृष्टि से उस आकाश में भी अवकाश दान की योग्यता है, भले ही धर्म द्रव्य के वहाँ न होने से जीव और पुद्गल का गमन नहीं है और काल द्रव्य भी नहीं है, पर आकाश तो आकाश ही है, उनमें जो शक्ति है सो तो वह है ही। दूसरी बात यह समझें कि आकाश द्रव्य अखण्ड द्रव्य है जब अवगाह हो रहा है लोकाकाश में तो वह आकाश है और अखण्ड द्रव्य होने से वे सभी हैं। पुद्गल का अर्थ है पूरण गलन को प्राप्त हो वह पुद्गल है। पूरण का अर्थ है मिलकर, गलन का अर्थ है घटकर कम हो जाये उसे पुद्गल कहते हैं। सो जो स्कन्ध दिखते हैं उनमें यह बात स्पष्ट पायी जाती है कि अनेक परमाणुओं का बंध होकर वह परिणाम में बढ़ जाता है और परमाणुओं का विच्छेद होकर वह घट जाता है। यह पूरण गलन स्वभाव स्कन्धों में तो स्पष्ट है, अब शक्ति अपेक्षा परमाणुओं में भी पूरण गलन स्वभाव है। परमाणुओं में भी गुणों का परिणमन होता रहता है, गुण वृद्धि और गुण हानि होती रहती है, सो वहाँ भी पूरण गलन व्यवहार मानने में कोई बाधा नहीं है। अथवा पुद्गल का यह भी अर्थ कर सकते—पु मायने पुरुष अर्थात् जीव उसके द्वारा जो निगले जायें सो पुद्गल हैं। जीव, शरीर, आहार, विषय आदिक के रूप में पुद्गल को निगलते ही हैं, और जब स्कन्ध दशा में वे निगले गये तो परमाणु भी निगले गये समझिये। तो व्युत्पत्ति अर्थ की अपेक्षा भी ये सब नाम अन्वर्थक हैं।

धर्मादिक द्रव्यों की स्वतन्त्रता व सूत्र में नामक्रम के कारणों का प्रकाश—इस सूत्र में धर्माधर्माकाश पुद्गला: यह बहुवचन का पद है जिसमें सबका स्वातन्त्र्य जाना जाता है, अर्थात् ये सभी द्रव्य अपने आप में स्वयं परिणत होते हैं अथवा धर्माधर्म आदिक द्रव्य जीव पुद्गल की गति आदिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अजीव पदार्थों में सदृशता है किसी दृष्टि से। जैसे सत्त्व जीव में है, सत्त्व उन धर्मादिक द्रव्यों में भी है। द्रव्यपना जीव में है तो द्रव्यपना उन अजीव पदार्थों में भी है। ऐसी सदृशता पायी जाती है। सो अभाव शब्द कहने से जीव का अभाव याने शून्य अर्थ नहीं है, किन्तु जीव न होकर अन्य लक्षण वाले पदार्थ हैं, यह अर्थ है।

काय शब्द का प्रकाश - यहाँ काय शब्द का अर्थ है—काय की तरह जो हो वह काय। काय मायने शरीर। जैसे—शरीर में अनेक प्रदेश हैं, परमाणु हैं उसकी तरह जो बहुत प्रदेश हों उसे काय कहते हैं। जैसे औदारिक आदिक शरीर नामकर्म के उदय से पुद्गल के द्वारा जो इकट्ठे होते हैं वे काय हैं ऐसे ही धर्मादिक पदार्थों में अनादि पारिणामिक भावतः असंख्यात प्रदेश का प्रचय है इसलिये उन्हें काय कहते हैं। इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण प्रदेश रूप अवयवों की अनेकता जतलाने के लिये है। याने धर्मादिक द्रव्यों में अनेक प्रदेश हैं। यद्यपि प्रदेश नाम स्थान की इकाई का है याने आकाश का सबसे छोटा अविभागी एक हिस्सा प्रदेश कहलाता है लेकिन वह प्रदेश एक नाप में आया, बुद्धि में तो उस बुद्धि के द्वारा उस आकाश प्रदेश की नाप से उनमें असंख्यात आदिक प्रदेश स्वीकार किये जाते हैं और प्रदेशों की बहुतायत बताने के लिये इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण किया गया है।

सूत्र में काय शब्द के ग्रहण की अनर्थकता का प्रश्न—यहाँ एक जिज्ञासु प्रश्न करता है कि जब आगे एक सूत्र आयेगा—असंख्येया: प्रदेशा: धर्माधर्मैक जीवानां··· ? तो उस सूत्र से ही बहुप्रदेशपना सिद्ध हो जाता है, फिर इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण करना निरर्थक है। कदाचित कोई यह कहे कि प्रदेश की संख्या का निश्चय हो जाये इसके लिये उस सूत्र की उपयोगिता होगी, सो भी बात नहीं, क्योंकि उस सूत्र से भी पदार्थों का समूह है, इतनी मात्र प्रतीत होती है। कोई यहाँ यह दलील देवें कि इस सूत्र में कहीं तीनों का मिलकर असंख्यात प्रदेश न समझ लेवें इस कारण कि एक-एक में असंख्यात प्रदेश होते हैं। इस प्रसिद्धि के लिये यहाँ काय का ग्रहण किया है। यहां काय का ग्रहण करने पर भी निश्चय नहीं बनता है। काय कहा तो उससे भी इतनी ही सिद्धि होगी कि बहुत प्रदेश हैं, फिर किस तरह निश्चय होगा। और सुनो—एक सूत्र आगे आयेगा - लोकाकाशेवगाहः उस सूत्र से निश्चय हो जायेगा, कैसे ? जब यह मालूम पड़ गया कि धर्म, अधर्म द्रव्य का लोकाकाश में अवगाह है और वह भी "धर्माधर्मयो:कृत्सने" इस सूत्र से धर्म, अधर्म द्रव्यों के प्रदेशों के परिमाण का निश्चय भी हो जाता है। कोई कहे कि सूत्र में काय ग्रहण न करने से अप्रदेशी एकपने का प्रसंग आ जायेगा, सो भी नहीं आ सकता, क्योंकि आगे के असंख्येया: आदिक सूत्र से बहुप्रदेशपना सूचित हो ही जाता है। एक बात और भी विशेष यह है कि ५ अस्तिकाय हैं, ऐसा आगम उपदेश प्रसिद्ध है। इसके लिये काय शब्द का ग्रहण सार्थक हो जायेगा। कोई ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि असंख्येया: सूत्र से ही बहुप्रदेशपना सिद्ध हो जाता है। कोई कहे कि कहीं कोई यह न समझ ले कि बहुप्रदेशीपना का स्वभाव छूट जायेगा इसलिये काय शब्द का ग्रहण किया है, तो यह भी सोचना ठीक नहीं है क्योंकि अभी ही सूत्र आयेगा कि यह नित्य अवस्थित है। इससे ही यह सिद्ध हो जायेगा कि यह अपना स्वभाव कभी छोड़ता नहीं है।

सूत्र में काय शब्द के ग्रहण की सार्थकता का कथन—अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं। तब इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण किया है और उससे यह सिद्ध हो गया कि इन अस्तिकायों में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी बहुत हो जायेंगे। इस कारण अन्य की निवृत्ति के लिये यह प्रयोग युक्त है कि धर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य, ये अजीव के काय हैं, जीव के काय नहीं हैं। यदि इनमें सर्वथा एकत्व हो जाये तब फिर नाम व्यवहार भी नहीं बन सकता। तो संज्ञा लक्षण आदिक की दृष्टियों से इनमें भेद बनता है इस कारण भिन्नाधिकरण वृत्ति वाला समास भी युक्त है। अब यहां शंकाकार कहता है कि अभेद होने पर भी तो लोक में व्यवहार देखा जाता है। जैसे कोई कहता कि यह केतु का शरीर है, यह राहु का सिर है। तो शरीर मात्र ही तो केतु है या सिर मात्र ही राहु है, कुछ भेद नहीं है। जो धड़ है वही केतु है, फिर भी उसमें भेद व्यवहार देखा गया या नाम भेद देखा गया कि केतु का शरीर राहु का सिर। उत्तर देते हैं कि भाई सर्वथा अभेद वहां भी नहीं है, वहां पर भी भेद है। वह किस प्रकार ? शक्तियों से देखिये—जो अनेक क्रियायों को बनावे ऐसे शक्ति भेद से सर्वथा भिन्न तो केतु है और उसका यह शरीर एक क्रिया विषयक है। ऐसा शब्द कल्पना से या बुद्धि भेद से इनमें भी कथंचित भेद समझ में आता है। भेद कुछ जाने बिना व्यपदेश व्यवहार नहीं बन सकता, तो वहाँ पर भी अन्य की निवृत्ति के लिये विशेषण है कि यह शरीर केतु का है, मनुष्यादिक का नहीं। जैसे कहा कि यह सिर राहु का है तो अन्य निवृत्ति यहाँ भी है, किसी दूसरे मनुष्यादिक का नहीं। सो मात्र चित्त भेद समझे बिना व्यवहार नहीं बन सकता, तीर्थ प्रवृत्ति नहीं बन सकती। यदि सर्वथा एकान्त मान लिया जाये—अभेद, तो अन्य की निवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे कोई प्रयोग करे - स्वर्ण का स्वर्ण, सोने का सोना है, तो इसमें अन्य की निवृत्ति नहीं कही जाती कि अन्य का सोना नहीं है। वह तो एक वचन मात्र की बात है।

अजीव शब्द का पर्युदास अर्थ—अब अजीव शब्द के अर्थ पर एक शंकाकार कहता है कि अजीव का यह अर्थ किया जाना चाहिये कि अजीव, जीव नहीं और ऐसा अर्थ करने पर अभाव मात्र ही समझा जायेगा। कोई वस्तु न जानने में आयेगी। उत्तर कहते हैं कि भेद मात्र अर्थ न लेना, जीव नहीं, इतना ही अर्थ न लेना किन्तु जीवन क्रिया से भिन्न क्रिया वाले ये पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य सद्-भूत पदार्थ हैं। सब सामने दिख रहे हैं और ये अजीव कहलाते हैं, और ये दिख रहे हैं तो इनको सिर्फ इतना न समझना कि जीव का अभाव मात्र है यह किन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श के पिण्डभूत ये पदार्थ हैं। जैसे अनश्व याने अश्व नहीं अघड़ा, घड़ा नहीं, ऐसा कहा जाये तो यह अर्थ होगा कि यह अश्व नहो हैं, किन्तु और कोई जानवर है। कहीं अभाव मात्र का बोध नहीं होता। कुछ है ही नहीं, अभाव का जहां प्रयोग होता है वहाँ अन्य है, यह ध्वनित होता है, आवान्तर में अभाव की प्रत्पत्ति होती है। जैसे गधा और घोड़ा दोनों करीब-करीब एक शकल के होते हैं। खच्चर, गधा तो प्रायः बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। फर्क उनमें थोड़ा होता है। तो वहां खड़ा तो था गधा और किसी ने कहा घोड़ा तो दूसरा समझाता है कि यह घोड़ा नहीं है। अनश्व है, तो उसका अर्थ यह नहीं है कि कुछ है ही नहीं। अर्थ उसका यह है कि घोड़े से अतिरिक्त कोई है। इसी प्रकार यहां जीव शब्द कहा है। धर्मादिक पदार्थ अजीव हैं। तो जीव का प्रतिबन्ध करने से तुच्छाभाव अर्थ न लेना कि कुछ भी नहीं है, जिसका उपयोग लक्षण नहीं किन्तु अन्य लक्षण हैं, ऐसे धर्मादिक द्रव्य हैं, यह अजीव का अर्थ है। यहाँ शंकाकार कहता है कि गधे में अनश्व कहा तो कुछ सदृशता थी, उस सदृशता से भ्रम होता था। जब कहा कि यह घोड़ा नहीं। अगर जीव की और धर्मादिक द्रव्यों में कुछ सदृशता ही नहीं है तो वहां कैसे अजीव शब्द से उसका बोध हो जायेगा। समाधान यह है कि जीव में और धर्मादिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवों की काय। तो इस प्रकार भिन्नाधिकरण करने से क्या हानि है। तो उत्तर यह हो सकता है कि भिन्नाधिकरण करने पर इसमें भिन्नता आ जायेगी। अजीव के काय, ऐसा बोलने पर अजीव कोई अलग चीज है, अस्तिकाय कुछ अलग चीज है, ऐसा अर्थ हो सकता है। जैसे राजपुरुष राजा अलग मनुष्य है और नौकर आदिक अलग मनुष्य हैं, ऐसी भिन्नता का प्रसंग हो जायेगा। शंकाकार कहता है कि भिन्नाधिकरण करने पर भी भिन्नता का प्रसंग नहीं आता। जैसे कोई कहता है कि स्वर्ण की मुदरी (अंगूठी) तो समास तो है भिन्नाधिकरण करने वाला, तत्पुरुष समास, मगर स्वर्ण और अंगूठी ये जुदी-जुदी चीजें नहीं हैं। तो इसी प्रकार यहां भी अजीव की काय ऐसा कह देने पर भी भिन्नता न आयेगी। अब इस शंका का समाधान करते हैं कि यहां दृष्टान्त में भिन्नाधिकरण वाला जो समास है वह अन्य विशेषों की निवृत्ति के लिये है। जैसे स्वर्ण की अंगूठी अर्थात् यह चांदी की अंगूठी नहीं है। न अन्य धातु की है। तो इसी तरह भिन्नाधिकरण समास भी कर दीजिये, और अर्थ यह लगा कि अजीव के काय, तो इस विशेषण से भी यह अर्थ हो गया कि ये चार अजीव के काय हैं, जीव के काय नहीं हैं, और इस तरह अगर तत्पुरुष समास भी करें तो भी कहीं कुछ विरोध नहीं आता। अब यहाँ भेद, अभेद की बात का विचार किया जाता है। ये चार पदार्थ अजीव भी हैं और अस्तिकाय भी हैं। यों अभेद होने पर भी कथञ्चित इनमें भेद जाना जाता है। यदि सर्वथा अभेद हो तब कुछ व्यवहार भी न बन सकेगा। तो अजीव और अस्तिकाय इनमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिक के द्वारा भेद उत्पन्न होता है। जैसे स्वर्ण की अंगूठी ऐसा कहने पर स्वर्ण तो हुआ एक सामान्य और अंगूठी हुआ स्वर्ण का विशेष तो सामान्य और विशेष में संज्ञा लक्षण आदिक की अपेक्षा से कथञ्चित भिन्नता है। जो स्वर्ण सामान्य है वह सब अंगूठी कहाँ है, और जो अंगूठी है वह स्वर्ण सामान्य कहाँ है ? यद्यपि स्वर्ण से अंगूठी भिन्न नहीं है, स्वर्ण की रची हुई परिणति है फिर भी संज्ञा और लक्षण की अपेक्षा इनमें भेद है। यदि स्वर्ण और अंगूठी में सर्वथा एकत्व हो जाये, पूर्णतया अभेद हो तो जैसे स्वर्ण सामान्य अंगूठी में हुआ तो अब स्वर्ण सामान्य कुण्डल आदिक में नहीं पहुँच सकता, क्योंकि यहां अभेद कर दिया। जो अंगूठी है सो ही सारा स्वर्ण है। अब आगे स्वर्ण रहा नहीं, अथवा जैसे स्वर्ण सामान्य सभी गहनों में पाया जाता है इसी तरह अंगूठीपना भी सभी गहनों में पाया जाना चाहिये, क्योंकि शंकाकार तो यहाँ स्वर्ण और अंगूठी को सर्वथा एकत्व बता रहा है इस कारण अन्य की निवृत्ति के लिए ही यह प्रयोग बनता है। यह अंगूठी स्वर्ण की है। यह अंगूठी स्वर्ण की है चांदी आदिक की नहीं, ऐसी निवृत्ति तब ही की जा सकती है जब इसमें कथञ्चित भेद माना जाता है। यदि सर्वथा एकत्व हो जाए तब तो नाम भी नहीं लिया जा सकता। क्या लिया जाये ?

भिन्नाधिकरण वृत्ति में भी अजीवकाय पद की सार्थकता—उक्त दृष्टान्त की तरह अजीवकाय में भी अजीव की काय है, ऐसा कहने पर संज्ञा, लक्षण आदिक के द्वारा कथञ्चित भिन्नता ज्ञात होती है अन्यथा यदि अजीव और काय इन दो शब्दों के वाच्य सर्वथा एक हो जायें तो जैसे धर्मादिक द्रव्यों में एकपना है ऐसे ही प्रदेशों में भी एकपना हो जायेगा, क्योंकि काय नाम प्रदेश प्रचय का है। उस प्रदेश प्रचयपने को और अजीव को सर्वथा एक मान लें तो प्रदेश भी अनेक न रह सकें। जैसे कि आगे बताया जायेगा कि धर्मादिक द्रव्यों में असंख्यात प्रदेश होते हैं। दूसरा दोष यह है कि अजीव और काय इन दोनों में सर्वथा एकत्व मान लिया जाये तो जैसे प्रदेश बहुत हैं ऐसे ही धर्मादिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रदेश परमाणु का ही प्रदेश कहलाया। यह बात इस तरह भी समझ लेना चाहिये कि परमाणु में प्रदेशीपन स्वभाव से विद्यमान है। यदि परमाणु में प्रदेशीपन स्वभाव न हो तो स्कंध अवस्था होने पर उन परमाणुओं के प्रदेशीपन की सिद्धि नहीं हो सकती। परमाणु में प्रदेशीपना तो आत्मभूत है, स्वलक्षण है तब ही तो अनेक परमाणुओं का बंध होने पर स्कंध दशा में वह प्रदेशीपन एकदम प्रकट हो जाता है, इन्द्रियग्राही भी हो जाता है। केवल एक पुद्गल परमाणु एक प्रदेश स्वरूप है फिर भी वह प्रदेशी कहा जाता। यदि केवल एक प्रदेश वाले परमाणु को प्रदेशी न माना जायेगा तो अनेक परमाणु मिलकर भी प्रदेशी न हो पायेंगे। प्रदेश के बिना प्रदेशी होना असम्भव है।

परमाणु को प्रदेशी व प्रदेश स्वरूप न मानने पर परमाणु में द्रव्यत्व की असिद्धि का प्रसंग—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि परमाणु को प्रदेश स्वरूप भी न माना जाये क्योंकि प्रदेश और प्रदेशी अविनाभावी हैं तो हमारे नैयायिक सिद्धान्त में परमाणु न प्रदेशी है, न प्रदेश स्वरूप है। इसका समाधान यह है कि यदि परमाणु न प्रदेश स्वरूप है, न प्रदेशी है तो वह द्रव्य भी नहीं हो सकता। जैसे कि इन्हीं नैयायिक वैशेषिक के गुण कर्मादिक पदार्थ प्रदेश शून्य हैं अतः उन्हें द्रव्य नहीं माना तो ऐसे ही परमाणु भी प्रदेशरूप नहीं हैं तो वे भी द्रव्य न रह सकेंगे, पर नैयायिक ने भी तो परमाणु को द्रव्य माना है क्योंकि वह गुणसहित है। स्पर्श आदिक गुण परमाणु में माने गये हैं। अतः प्रदेश और प्रदेशी स्वभाव से होते हैं, अन्यथा जगत में कोई द्रव्य ही सिद्ध नहीं होगा। शंकाकार यहाँ यह तर्क भी सिद्ध नहीं कर सकता कि आकाश आत्मा आदिक द्रव्य प्रदेश स्वरूप नहीं हैं और प्रदेशी स्वरूप नहीं है और वे द्रदय हैं। यह तर्क उनका इस कारण संगत नहीं है कि आकाश के अनन्त प्रदेश कहे गए हैं। आत्मा आदिक के भी असंख्यात प्रदेश सिद्ध किए गए हैं। वे प्रदेशरहित नहीं हैं।

परमाणु के अनेक प्रदेशित्व की असंभवता—अब यहां कोई शंकाकार कहता है कि यदि परमाणु को प्रदेश वाला मानते हो तो उसे अनेक प्रदेश वाला भी मानो और हम यहां अनुमान से सिद्ध करते हैं कि परमाणु अनेक प्रदेश वाला है, क्योंकि यह द्रव्य है। जैसे घट, आकाश, आत्मा ये अनेक प्रदेश वाले हैं, क्योंकि द्रव्य हैं। इसके समाधान में कहते हैं कि शंकाकार का यह अनुमान इस कारण ठीक नहीं है कि जिसको परमाणु कहा जा रहा है वह शब्द में भी यह बतला रहे कि परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है। परमाणु का अर्थ है उत्कृष्ट विभाग वाला छोटा पदार्थ। जिस किसी को भी परमाणु का नाम देकर अनेक प्रदेश वाला मानोगे तो चूंकि वह अनेक प्रदेशों में है सो उसके भी विभाग बन सकेंगे और यों विभाग कर करके जो अन्तिम एक प्रदेश वाला ज्ञात होगा वही परमाणु कहलायेगा। और वह परमाणु द्रव्य है, सो द्रव्य होने पर भी कोई एक प्रदेशी है, कोई अनेक प्रदेशी है। काल द्रव्य भी तो एक प्रदेशी है और कहलाता है। देखो शंकाकारों ने भी तो शब्द को द्रव्य माना हैं और शब्द को प्रदेशरहित स्वीकार किया है। तो यह अनुमान ठीक तो न रहा कि जो द्रव्य है वह अनेक प्रदेश वाला है। शब्द विषयक वास्तविकता तो यह है कि शब्द भी अशुद्ध द्रव्य है और वह अनेक प्रदेशी है और परमाणु चूंकि उत्कृष्ट छोटा पदार्थ है जिसका कि फिर भेदन नहीं हो सकता, वह अनेक प्रदेश वाला न हो सकेगा।

परमाणु को अष्टप्रदेशी मानने के मन्तव्य की मीमांसा का प्रारम्भ—परमाणु के बारे में कुछ दार्शनिक ऐसा मन्तव्य रखते हैं कि परमाणु में कम से कम ८ प्रदेश तो मानना ही चाहिये क्योंकि ८ दिशाओं में से किसी भी दिशा में और कोई परमाणु लगे, तो यों ही तो स्कंध बन पायेगा। सो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उस परमाणु की ८ दिशाओं में अन्य परमाणु के लग सकने के कारण परमाणु के ८ प्रदेश हैं। उनका यह कहना यों सिद्ध नहीं है कि फिर तो वह परमाणु न रहा, स्कंध बन गया, क्योंकि ८ अंश मानने वाले को ऊपर और नीचे के भी अंश मानने पड़े और कोई ८ पैर वाला पदार्थ हो, उसके आसपास ८ पैर वाले पदार्थ रखे ज यें तो निश्छिद्र बंध नहीं हो सकता याने उनके बीच अन्तर रहेगा या गोल-गोल माना जाये तो। उनके समूह में भी अन्तर रहेगा। इस कारण परमाणु के ८ अंश या १० अंश या गोलाकार मानना ठीक नहीं जचता। परमाणु तो एक प्रदेशी ही है।

परमाणु को अष्ट प्रदेशी मानने पर ही स्कन्ध बन सकने का शंकाकार द्वारा समर्थन—परमाणु को ८ प्रदेश वाला मानने वाले शंकाकार कहते हैं कि यदि परमाणुओं को अनेक प्रदेश वाला न माना जायेगा तो दूसरे परमाणु के बंध होने के प्रसंग में दो ही तो विकल्प हैं, या तो सर्वांग रूप से संयोग हो या एक देश रूप से संयोग हो, सो सर्वांग रूप से दूसरे परमाणु का संयोग होने पर वह पिण्ड एक परमाणु बराबर ही रहेगा क्योंकि यहाँ बंधन सर्वांग रूप से हुआ है और इस तरह एक क्या, संख्यात असंख्यात अनन्त परमाणु एक से बंधे तो भी एक परमाणु रूप से रहेगा, और इस तरह सुमेरु पर्वत भी परमाणु के बरबार छोटा बन बैठेगा। अब यदि एक देश से परमाणुओं का संयोग माना जाये तब तो अवयव सहित परमाणु कहलाने लगा। याने परमाणु के एकदेश में बंध होता है, बाकी देश में तो नहीं होता। तो यों परमाणु अवयव सहित बन गया। ता जैसे पदार्थ के अनेक अवयव होते हैं उसी पदार्थ में कई एकदेश बन गये, और वहाँ उसके एकदेश से संयोग माना। तो पहले तो वह अकेला ही परमाणु अवयवी कहलाया और फिर उस अवयवी परमाणु के अवयवों में संयोग बनाया तो यों तो अवयवों के कल्पना की लम्बी धारा बढ़ती चली जायेगी। और अनवस्था हो जायेगी, और तीसरी बात यह है कि चाहे सर्वात्मरूप से संयोग मानो, ८ प्रदेश वाला न मानने पर बड़े स्कंध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। इस कारण ८ प्रदेश वाला वह रूपाणु उत्तरोत्तर विभाग हो होकर अन्त में अविभागी के परमाणु बन जायेंगे। लेकिन वह परमाणु भी अंशों से रहित नहीं है। हम लोगों को प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं हो पाता इसलिये अंश सहित परमाणु की भी हम निरंश रूप में कल्पना कर लेते हैं। इससे चूँकि दिशायें ८ हैं, चार दिशायें, चार विदिशायें, एक नीचे, एक ऊपर, सो प्रदेश भी ८ प्रदेश वाले माने जाना चाहिये।

परमाणु को अष्टप्रदेशी मानने पर परमाणुत्व की असिद्धि और संयोग विधि का स्याद्वाद से समाधान—उक्त शंका का समाधान करते हुये आचार्य देव कहते हैं कि अनेक तर्क वितर्क से क्या लाभ है? स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार विचार करने पर सर्व समस्यायें हल हो जाती हैं। एकप्रदेश वाले परमाणु का किसी का सर्वात्मरूप से संयोग होता, किसी का एकदेश रूप से संयोग होता, सो कभी अणु-अणु मात्र भी स्कंध हो सकता याने छोटे स्कंध हो जायेंगे और कोई बड़े स्कंध भी बन जाते, इसमें कोई दोष नहीं है। सो एक प्रदेशमात्र परमाणु को मानने पर कोई दोष नहीं है। बल्कि ८ प्रदेश वाले परमाणु मानने पर उसके फिर टुकड़े किये जा सकते और वह अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि रूपाणु टुकड़े किये जाने योग्य है, क्योंकि मूर्त होकर भी अनेक अवयवों वाला है। जैसे घटपट आदिक ये मूर्त हैं और अनेक अवयवों वाले हैं तो इनके टुकड़े किये जा सकते, ऐसे ही जो लोग परमाणु को ८ प्रदेश वाला मानते हैं सो वे मूर्त हैं और अनेक अवयवों वाले हैं इस कारण उनका भेदन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो सकता। अनेक अवयवों वाला तो आकाश भी है पर वह मूर्त नहीं है इसलिये इस हेतु में कोई दोष नहीं है. निष्कर्ष यह है कि अन्तिम सबसे छोटा अवयव केवल एक प्रदेश स्वरूप है।

परमाणु के अष्टप्रदेशित्व की असिद्धि का विवरण—जब यहाँ परमाणु को ८ प्रदेश वाला मानने वाले शंकाकार पुन: शंका रख रहे हैं कि परमाणु को एक ही प्रदेशमात्र मानने पर तो बड़े स्कंधों की प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि परमाणु के प्रदेश अनेक तो माने नहीं, ऐसी दशा में अनेक परमाणुओं का भी संयोग हो जाये तो भी वह पिण्ड अणुमात्र ही बना रहेगा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ऐसी समस्या तो तुम्हारे ८ प्रदेश वाले परमाणु में भी आ खड़ी हो सकती है। भला ८ प्रदेश वाले परमाणु का एकदेश से अन्य का संयोग बनता है तो उस बीच छिद्र रह जाते हैं। ऊपर नीचे की जगह न भर पायेगी और एकदेश संयोग मानने पर अनवस्था दोष भी आयेगा और सम्पूर्ण रूप से फिर आप संयोग मानने की कहेंगे। तो भले ही ८ प्रदेश वाला परमाणु है शंकाकार जैसा मानता है फिर भी सर्वांग रूप से अन्य परमाणु का संयोग होगा तो वह पिण्ड भी अणुमात्र रह जायेगा, बड़े पिण्ड की प्रतीति न हो सकेगी। भला ८ प्रदेश वाला परमाणु मानने वाले यह बतायें कि पूर्व आदिक दिशाओं में प्राप्त हो रहे अन्य परमाणु क्या एकदेश से सम्बन्धित होंगे या पूर्ण रूप से सम्बन्धित होंगे? दोनों ही पक्षों में जैसे कि शंकाकार ने एक प्रदेश वाले परमाणु में दोष दिया था वे ही दोष यहाँ आ सकते हैं इस कारण स्याद्वाद सिद्धान्त से ही यह बात सिद्ध होती है कि कभी परमाणु सर्वांगरूप से संयुक्त हो तो उसका आकार नहीं बढ़ता, कोई एकदेश से संयुक्त होता तो उसका आकार याने स्कंध पिण्ड बढ़ जाता है।

परमाणु परमाणु के परस्पर बन्धन का कारण स्निग्धत्व रूक्षत्व गुण की विशेषता—परमाणु परमाणु के बन्धन के सम्बन्ध में वास्तविकता यह है कि न तो एकदेशसंयोग की बात प्रश्न में उठती है न सर्वांगरूप से संयोग की बात प्रश्न में उठती है। किंतु इन दोनों प्रकारों से अतिरिक्त तीसरे ढंग से ही बन्धन होता है। और वह है स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण बन्धन। और, चाहे दोनों परमाणु स्निग्ध हों या रूक्ष हों या एक स्निग्ध हो एक रूक्ष हो वहाँ एक से दूसरे में दो अधिक डिग्री का गुण हो तो वहां बन्ध हो जाता है। जो कि एक देश से संसर्ग कराता हुआ बड़ा पिण्ड बना देता है और कभी सर्वात्मरूप से संसर्ग हो तो अणु मात्र हो रह जाता है। ऐसे उन परमाणुओं में भी अवगाह शक्ति है तब ही तो इस छोटे से लोक में अनन्तानन्त परमाणु निरापद विराजमान हैं। तो स्याद्वाद सिद्धांत में परमाणुओं का परस्पर एकदेश से भी संयोग होता है, व सर्व देश से भी संयोग होता है। तब स्कन्धों में परमाणु तो अवयव कहलाता और स्कन्ध अवयवी कहलाता। फिर उनमें कार्यकारण भाव आदिक सब विधियां ठीक प्रकार से निर्णीत हो जाती हैं।

सभी वस्तु धर्मों की स्याद्वाद से सिद्धि का संकेत—इस पञ्चम अध्याय के प्रथम सूत्र में बताया था कि धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीव काय हैं। और द्वितीय सूत्र में बताया था कि ये द्रव्य हैं फिर आगे के सूत्र में बताया कि जीव भी काय है और द्रव्य है सो इन सब के सम्बन्ध में में द्रव्यपना, नित्यपना, रूपीपना, निष्क्रियपना आदिक स्वभाव से भी घटित किया था। सो यहाँ एक एक बात यह जानना कि जिसको द्रव्य कहा था वह एक दृष्टि से द्रव्य रूप है। पर किसी अपेक्षा से पर्यायरूप भी है। यदि हम केवल एक सत् को मूल आधार मानते हैं याने सत् कहकर सबका संग्रह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मानते हैं तब तो उस सत् का भेद कर जो बताया जाय वह पर्यायरूप बनता है। भेद को भी पर्याय कहा गया है। किंतु कितने ही भेद करके बताया जाय प्रत्येक पदार्थ अपने सत्त्व सेसत् रूप है और वह स्वयं द्रव्यपर्यायात्मक है। नित्यानित्यात्मक है। अतः वे सभी द्रव्य हैं। और, जो कुछ भी बात कही गई जैसे कि ये सब नित्य अवस्थित हैं, तो किसी अपेक्षा से यह अवस्थित है, निष्क्रिय है, इसकी गति नहीं होती इसलिए आकाश आदिक द्रव्य निष्क्रिय हैं पर उनमें स्वयं में परिणमन होने का, द्रव्यपना होने का ये सब क्रियायें चलती हैं इस कारण कथञ्चित सक्रिय भी हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्य में अनेक स्वभावमयता की सिद्धि होती है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप से चलित नहीं है इसलिए अचल है, निष्क्रिय है, पर किसी में हलन चलन आदिक क्रियायें पायी जातीं और जिनमें हलन चलन आदिक क्रियायें नहीं पाई जातीं वहां अवस्थितपन, परिणमनपन आदिक क्रियायें भी तो हैं। परिस्पन्द न होना याने अपरिस्पन्द होना यह भी एक क्रिया है। तो यों क्रिया सहितपना भी सिद्ध होता है। जीवद्रव्य में असंख्यात प्रदेश बताये हैं। पर किसी अपेक्षा जैसे प्रदेश का संहार विसर्प है उन अपेक्षाओं से उनमें संख्यात असंख्यात विभाग भी बन सकते। स्याद्वाद से अनेक विधि की सिद्धि होने पर भी प्रधान का प्रधानतया कथन होता है। तात्पर्य प्रकरण में यह है कि परमाणु के एक देश संयोग सर्व देश संयोग या पदार्थों का द्रव्यपना पर्यायपना आदिक सभी बातें स्याद्वाद से सिद्ध कर ली जाती हैं। यहाँ तक अस्तिकायों के सम्बन्ध में स्वरूप, प्रदेश आदिक का वर्णन हुआ। अब जिज्ञासा होती कि ये सब कहां हैं सो उनका अधिकरण बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

लोकाकाशेऽवगाहः ॥५ १२॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह – लोकाकाश में अवगाह है, सूत्र का शब्द के अनुसार इतना ही अर्थ है, पर किसका अवगाह है, यह बात समझने के लिये पूर्व सूत्र देखने होंगे। अनन्तर पूर्व के सूत्र देखने से तो पुद्गल का अवगाह आपतित होता है। इतना ही अर्थ निकलेगा, पर इतना अर्थ यहाँ नहीं है। समुदाय की यहां अपेक्षा है इस कारण लोकाकाश में धर्म अधर्म आदिक सभी द्रव्यों का अवगाह है, यह इस सूत्र का अर्थ होता है।

आकाश की स्वप्रतिष्ठता व परमार्थ से सभी द्रव्यों की स्वप्रतिष्ठता—यहाँ एक शंका होती है कि सब द्रव्यों का अवगाह तो लोकाकाश में हुआ, पर इस लोकाकाश का भी क्या आधार है, वह भी तो कहना चाहिये। लोकाकाश कहो या आकाश कहो। आकाश किसके आधार रहता है, यह भी बताना चाहिये। उत्तर इसका यह है कि आकाश का अन्य कोई आधार नहीं होता। आकाश अपने ही आधार में रहता है, अर्थात् आकाश आधेय है और आकाश ही आधार है। इसका कारण यह है कि आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य कोई द्रव्य है ही नहीं। आकाश सर्वव्यापक है, इस कारण से आकाश का आधार अन्य कुछ नहीं होता। यदि आकाश का आधार भी ढूंढ़ने चलेंगे, कल्पनायें करेंगे तो फिर उसका भी आधार बताना चाहिये, फिर उसका भी आधार बताना चाहिये तब तो अनवस्था-दोष आ जायेगा। पर यहाँ अनवस्था दोष है ही नहीं। आकाश अपने आधार है, उसका आधारभूत अन्य कोई द्रव्य नहीं है। तथा वस्तु स्वरूप की भी बात देखिये परमार्थ दृष्टि से तो सभी पदार्थ अपने अपने आधार में रहते है। एवं भूतनय की दृष्टि में सभी द्रव्य परमार्थ रूप से अपने आपके आधार में हैं। तो इस परमार्थ बात के कहने से कहीं यह एकान्त न कर लेना तो फिर अन्य से अन्य के आधार बताना यह सब खण्डित हो जायेगा। सो खण्डित नहीं होता। क्योंकि व्यवहार से

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आधार आधेय की सिद्धि है। हां परमार्थ से तो आकाश की तरह सभी पदार्थ अपने-अपने आधार में हैं, इसका कारण यह है कि क्रियायें दो तरह की देखी जाती हैं एक कर्ता में रहने वाली क्रियायें और एक कर्म में रहने वाली क्रिया। जैसे एक वाक्य बोला—कि देवदत्त ठहर रहा है या देवदत्त जा रहा है तो ठहरने और जाने की क्रिया का समवाय देवदत्त कर्ता में है और जैसे कोई कहता है कि रसोइया चावल को पका रहा तो यहाँ पकने रूप क्रिया का समवाय कर्मकारक रूप चावल में है। तो वहाँ व्यवहारनय की दृष्टि से क्रिया का आधार द्रव्य रहा, और क्रिया सहित द्रव्य का आधार द्रव्यान्तर रहा लेकिन परमार्थ दृष्टि से एवं भूतनय की अपेक्षा क्रिया क्रियात्मक में ही रहेगी, द्रव्य भी स्वात्मा में ही रहेगा। तो यहाँ सूत्र में जो लोकाकाश में धर्मादिक द्रव्यों का अवगाह कहा गया है वह व्यवहार-नय के आदेश से कहा गया है। परमार्थतः देखा जाये तो सभी द्रव्य अपने-अपने आधार में रहते हैं।

अयुत सिद्ध में भी आधाराधेयत्व का व्यवहार—अब यहाँ एक शंकाकार कह रहा है कि आकाश का तो बता रहे आधार और धर्मादिक द्रव्यों को कह रहे हैं आधेय तो आधार और आधेय तो भिन्न-भिन्न रूप से होते हैं अर्थात् पहले धर्मादिक आकाश में न हों, पीछे आकाश में चले हों, यह बात बन बैठेगी। जैसे मटके में बेर हैं तो बेर पहले मटके में न थे, पीछे मटके में डाले गये अथवा ये दोनों भिन्न ही तो हो गये, तब तो आधार आधेय समझ में आयेगा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि पृथक् सिद्ध में ही आधार आधेय की कल्पना हो यह नियम नहीं है। जो आयुक्त सिद्ध है अभिन्न है वहाँ भी आधार आधेयपना देखा जाता है। जैसे कहते हैं कि हाथ शरीर में है। यहाँ शरीर को आधार कहा और हाथ में आधेय कहा फिर भी हाथ शरीर से कुछ जुदी चीज नहीं। सिर्फ हाथ और शरीर पूर्वापर दृष्टि से ये उत्पन्न तो नहीं हुये कि पहले शरीर हो, पीछे हाथ हो तो अयुत सिद्ध में भी आधार आधेय देखा जाता इसी प्रकार आकाश धर्मादिक पदार्थ अनादि से एक साथ सिद्ध हैं, इनमें पूर्वापर भेद नहीं है फिर भी आधार आधेय हो जाता है, इस कारण कहीं पृथक् सिद्ध में भी आधार आधेय का व्यवहार है, कहीं अयुत सिद्ध में भी आधार आधेय का व्यवहार है। सर्व समस्याओं का हल अनेकान्त दृष्टि से समझ लेना चाहिये।

लोक व लोकाकाश का अर्थ—अब यहाँ लोकाकाश का अर्थ कहा जाता है। लोक कहते किसे हैं? तो लोक शब्द के व्युत्पत्ति के अनुसार अनेक प्रकार से अर्थ बनते हैं। पहला अर्थ यह है कि पुण्य पाप कर्म का सुख दुःख रूप फल जहां देखा जाये उसे लोक कहते हैं। इस अर्थ से लोक नाम आत्मा का रहा, क्योंकि पुण्य पाप कर्म का फल आत्मा में लिखा जा रहा है फिर भी रूढ़ि से लोक शब्द द्वारा सब द्रव्यों का ग्रहण होता है। दूसरा अर्थ है जो पदार्थ को प्राप्त करता है, लोकता है, देखता है उसे लोक कहते हैं। इस अर्थ में भी लोक नाम आत्मा का ही कहलाया, क्योंकि आत्मा ही पदार्थों की उपलब्धि करता है पर शब्द में ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी रूढ़ि से सभी द्रव्यों का नाम लोक कहलाता है। याने धर्मादिक द्रव्य सभी जहाँ पाये जाते वह लोक है। रूढ़ि के स्थान में क्रिया की मात्र व्युत्पत्ति कुछ समझने के लिये की जाती है। जैसे गौ शब्द कहा तो शब्द के अर्थ से तो गौ यह अर्थ निकलेगा कि जो जावे सो गौ है। तो क्या बैठी हुई गायें गौ न कहलायेंगी? यहाँ समभिरूढ़ की प्रधानता है, इसी प्रकार जो लोकन करे, जाने सो लोक है। इस व्युत्पत्ति में भी धर्मादिक की लोकता की हानि नहीं है, क्योंकि यह सब समभिरूढ़ि से ही सिद्ध हुआ है। अथवा लोक का यह तीसरा अर्थ किया जाये कि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जो देखा गया

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सो लोक है। लोक्यते यः सः लोकः, तो सर्वज्ञ के द्वरा समस्त ही पदार्थ जाने गये हैं इसलिये धर्मादिक समस्त पदार्थों के लोकपना सिद्ध होता है। इस तीसरे अर्थ में यह शंका न करना चाहिये कि फिर तो आत्मा छूट गया। देखने में जो आये सो लोक तो देखने में वे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल आये, तो इनमें लोक न रहेगा यह शंका न करना, क्योंकि देखने में स्वात्मा भी आया है। छहों प्रकार के द्रव्य सर्वज्ञ के द्वारा जाने गये हैं। अब यहाँ यह भी शंका उत्पन्न कर सकते हैं कि इस तीसरे अर्थ की दृष्टि में अलोकाकाश भी लोक बन बैठेगा, क्योंकि अर्थ तो अब यह किया कि जो सर्वज्ञ द्वारा देखा जाये सो लोक है, तो सर्वज्ञ के द्वारा तो अलोक भी जाना गया क्योंकि यदि अलोक नहीं जाना गया तो वह सर्वज्ञ न रहेगा। यह शंका न करना, क्योंकि इस तीसरे अर्थ में भी रूढ़ि विशेष से छहों द्रव्य जहाँ पाये जाते हैं, छहों द्रव्यों का जो समूह है वह लोक कहलाता है, अथवा तीसरे अर्थ में एक यह विशेषण और लगाना चाहिये कि जहाँ रहते हुये सर्वज्ञ के द्वारा जो देखा जाये वह लोक है। तो सर्वज्ञ तो अलोक में हैं नहीं इस कारण समस्त अलोक-लोक से अलग कहलाने लगेगा। अथवा चौथा अर्थ यह करना चाहिये कि धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल और जीव जहाँ देखे जायें वह लोक है। कहाँ देखे जाते ? लोकाकाश में। लोकस्य आकाशः लोकाकाशः लोक का जो आकाश है वह लोकाकाश है और यह लोकाकाश धर्म द्रव्य के समान असंख्यात प्रदेशी है। यहां सब द्रव्यों का अवगाह है, उसके बाहर चारों ओर अनन्त अलोकाकाश है। समस्त द्रव्यों का अवगाह स्थान बताया है। अब उस ही लोकाकाश में किन-किन द्रव्यों का कितनी-कितनी जगह में अवगाह है यह बतला रहे हैं।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥५-१३॥

धर्म व अधर्म द्रव्य का समस्त लोकाकाश में अवगाह—सूत्र का शब्दार्थ तो इतना ही है कि धर्म और अधर्म द्रव्य का समस्त में। अब इस सूत्र में पूर्व सूत्र से दोनों पदों की अनुवृत्ति ग्रहण की जा रही है। जिससे अर्थ हुआ कि धर्म और अधर्म द्रव्य का समस्त लोकाकाश में अवगाही है। यहाँ धर्म और अधर्मद्रव्य का लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में अवगाह बताया गया है। इनका लोक के एकदेश में अवगाह नहीं है। ये धर्म और अधर्मद्रव्य समस्त लोकाकाश में अवगाही है, यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाही हैं क्योंकि गमन कर रहे और ठहर रहे, समस्त पदार्थों का उपकार किया जा रहा होने से। समस्त लोकाकाश में गमन कर रहे पदार्थ का उपकार धर्मद्रव्य से हो रहा और ठहर रहे पदार्थ का ठहरा देना यह उपकार अधर्मद्रव्य से हो रहा, इस हेतु से यह सिद्ध होता है कि दोनों द्रव्य लोकाकाश में ठसाठस रूप से अवगाह करने वाले हैं। तीनों लोक के जितने भी पदार्थ हैं उन सभी गति परिणाम वाले और स्थिति परिणाम वाले का जो गति और स्थिति में निमित्त रूप उपकार है, यदि धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य लोक में एक देशवर्ती द्रव्य होते तो न हो सकता था, क्योंकि एकदेशवर्ती होकर धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य यदि जीव पुद्गल के गमन करने और ठहरने में निमित्त हो जायें तब तो इनका गमन और ठहरना अलोकाकाश में भी होना पड़ेगा। सो युक्ति संगत नहीं है। इस कारण लोकाकाश में ही समस्त द्रव्य हैं और जीव पुद्गल का गमन और ठहरना लोकाकाश में ही है, यह बात तब ही सिद्ध हो सकती है जबकि लोकाकाश में धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य सर्व देशों में व्यापी हो। यहाँ कृत्स्न शब्द देने से यह समझना कि धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकाश में ऐसा अवगाह है जैसे कि तैलका तिलों में होता है। तेल तिलों के किसी एक जगह में नहीं रहते। वे सर्व देशों में व्याप्त हैं, ऐसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य समग्र लोकाकाश में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्याप्त है। ऐसा नहीं है कि जैसे घर के एकदेश में कलश आदिक का अवस्थान होता हो। यहाँ यह शंका न रखना चाहिये कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य और आकाश भी वहीं के वहीं ठहर रहे हैं। इनका परस्पर में विरोध क्यों नहीं। जहाँ एक ठहरा है वहाँ दूसरे का प्रवेश न होना चाहिये। यह शंका इस कारण से संगत नहीं है कि ये द्रव्य अमूर्तिक हैं। अमूर्त द्रव्य का परस्पर प्रवेश में विरोध नहीं होता। विरोध तो मूर्तिक स्थूल द्रव्यों का हो सकता है, किन्तु जो अमूर्त द्रव्य है उसमें विरोध का प्रसंग ही नहीं है अथवा ऐसा द्रव्य का अवस्थान अनादि काल से भी चला आ रहा है। वहाँ विरोध का कोई अवकाश नहीं, इस प्रकार लोकाकाश में अमूर्त हो रहे धर्म, अधर्म द्रव्यों का अवगाह बताया। अब जो मूर्तिमान है अर्थात् पुद्गल द्रव्य है उनके अवगाह का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कह रहे हैं।

एक प्रदेशादिषुभाज्यः पुद्गलानाम् ॥५-१४॥

पुद्गलों का लोकाकाश के एकप्रदेश आदि में अवगाह—सूत्र के शब्दों का अर्थ है कि पुद्गलों का एक प्रदेश आदिक लगा लेना चाहिये। इस सूत्र में भी लोकाकाशेवगाहः इन दोनों ही पदों की अनुवृत्ति ली जा रही है जिससे कि सूत्र का पूर्व अर्थ बना—पुद्गलों का लोकाकाश के एक प्रदेश आदिक में अवगाह लगा लेना चाहिये। यहाँ लोकाकाशेवगाहः इस सूत्र से लोकाकाश की अनुवृत्ति तो ली, किन्तु अर्थ के वश से विभक्ति का परिणमन हो जाता है। लोकाकाशे शब्द को सप्तमी विभक्ति लगी है किन्तु यहाँ षष्ठी विभक्ति का अर्थ होता है और जिससे अर्थ बना यह कि लोक के एक प्रदेश आदिक में अवगाह है। अब एक प्रदेश आदिक में अवगाह कैसे जाना जाये उसकी युक्ति यह है कि उस ही लोकाकाश के एक प्रदेश में जैसे एक परमाणु का अवगाह हो रहा है उसी प्रकार अनेक अणु का अथवा अनेक स्कंधों का भी सूक्ष्म परिणमन हो जाने से अवगाह हो जाता है और इस प्रकार किन्हीं स्कन्धों का कुछ प्रदेशों में अवगाह है, किन्हीं का असंख्यातवें भाग में अवगाह है। और असंख्यात भी असंख्यात प्रकार के होते हैं, सो यों उनके विविध क्षेत्रों में अवगाह है। यह बात पहले बता दी गई थी कि एक परमाणु के साथ अन्य परमाणु का सम्बन्ध कहीं सर्वदेश से होता है तो वह एक प्रदेशमात्र रह जाता है और कुछ परमाणुओं का सम्बन्ध परमाणु के एकदेश में होता है। तो वह पिण्ड दो आदिक प्रदेशों में रहता है। पुद्गल स्कन्धों में इस तरह का सूक्ष्म परिणमन होना असिद्ध नहीं है क्योंकि सूक्ष्म व स्थूल में स्कन्धों में सूक्ष्म व स्थूल परिणमन होता देखा जा रहा है जैसे बहुत सी रूई बिखरी पड़ी है उस समग्र रूई को यदि दबा दिया जाये और यन्त्र से उसका केन्द्रीकरण हो जाये तो वह पिण्ड थोड़े प्रदेशों को घेरने वाला वहाँ ही स्पष्ट दिख रहा है। स्थूल पदार्थों में दूसरे स्थूल पदार्थ भी प्रविष्ट हो जाते हैं, यह भी देखा जा रहा है। जैसे घर में सैकड़ों दीपकों के प्रकाश एक ही जगह समा जाते हैं अथवा ऊंटनी के दूध से भरे हुये बर्तन में उतना ही मधु डालने से समा जाता है या जैसे दूध में बूरा घुलकर उतने में ही समा जाता, बुझाया हुआ पारा सोने को समा लेता है और बोझ उतना ही रहता है। बालू रेत या राख में पानी भी समा जाता है, जब यहाँ स्थूल पदार्थ भी अनेक स्थूल पदार्थों को समा लेते हैं तो सूक्ष्म परिणमन वाले परमाणुओं का अवगाह हो जाये और वह भी सूक्ष्म पिण्ड होकर आकाश के थोड़े से प्रदेश में रहे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अब पुद्गल का अवगाह बताकर जीवों का अवगाह बतला रहे हैं कि जीव आकाश के कितने हिस्से में रहता है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

असंख्येय भागादिषु जीवानाम् ।।५-१५।।

लोकाकाश के असंख्येय भाग आदि में जीवों का अवगाह—इस सूत्र में भी लोकाकाशे अवगाह इन दो पदों की अनुवृत्ति ली जाती है और अर्थवश से लोकाकाश का विभक्ति परिणमन हो जाता है षष्ठी विभक्ति हो जाती है। तब इस सूत्र का अर्थ होता है कि जीवों का लोकाकाश के असंख्याते भाग आदिक में अवगाह है। असंख्यात असंख्याते प्रकार के होते हैं। इसलिये लोकाकाश का असंख्यातवां भाग भी अनेक प्रकार का होता है। कोई जीव सर्व जघन्य शरीर वाला हो नित्य निगोदी उसका अवगाह लोक के असंख्यात भाग प्रमाण असंख्यात प्रदेश में है और किसी जीव शरीर का अवगाह ऐसे दो असंख्यात भागों में है, किसी का ऐसे तीन आदिक असंख्यात भागों में है। कोई भी जीव शरीर अथवा जीव किसी भी पर्याय में असंख्यात प्रदेशों से कम प्रदेश में नहीं ठहरते। कितने से छोटे आकाश के हिस्से में असंख्यात प्रदेश पाये जाते हैं इसका अनुमान इस तरह कर लेना चाहिये कि आगम में बताया है कि सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में भी असंख्याते उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के समय से अधिक प्रदेश विद्यमान हैं। गणना की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में जितना समय होता और वह भी असंख्याते उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का उतने से अधिक प्रदेश तो सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग की जगह में हैं।

छोटे-बड़े जीव शरीरों का दिग्दर्शन—सबसे छोटी जघन्य अवगाहना कब होती है जीव की सो सुनो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव जब उत्पन्न होते हैं तो उसके तीसरे समय में घनांगुल के असंख्यातवें भाग रूप सबसे छोटी जघन्य अवगाहना है, फिर इस अवगाहना से एक प्रदेश, दो प्रदेश संख्यात प्रदेश असंख्यात प्रदेश बढ़-बढ़कर बड़ी अवगाहना बनती है। केवली समुद्घात में लोकपूरण समुद्घात के समय ऐसा अवसर होता है कि जीवों के प्रदेश समग्र लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इस अवसर के अतिरिक्त किसी भी अवसर में जीव के प्रदेश समग्र लोकाकाश में नहीं व्याप पाते। इन जीवों के शरीर में भी ऐसी अवगाहने की योग्यता है कि थोड़े से स्थान में कहिये सर्व जघन्य शरीर रह रहा है उसी स्थान में अनन्त निगोदिया जीव समा जायें। जब साधारण नामकर्म प्रकृति का उदय होता है तो वहां ऐसे साधारण जीव होते हैं कि जिनका शरीर तो एक है और उस आश्रय से अनन्त जीव बस रहे हैं। उन अनन्त जीवों का आहार, श्वास उच्छ्वास जन्म मरण साधारण है अर्थात् एक साथ होता है। इस लोक में ऐसा स्कन्ध देह असंख्यात लोक प्रमाण है जिन एक-एक स्कन्धों में असंख्यात लोक प्रदेश के बराबर अन्डर होता है और एक-एक अन्डर में असंख्यात लोकप्रमाण आवास होते हैं और एक-एक आवास में असंख्यात पुलवियाँ होतीं हैं और एक-एक पुलवी में असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर होते हैं और एक-एक शरीर में सिद्ध राशि से अनन्त गुने निगोदिया जीव रहते हैं। तो अब ध्यान में लाओ कि थोड़ी सी जगह में कितने अनन्त जीव बसे हुये हैं। यद्यपि मोटे रूप में यही कहा जा रहा है कि सर्व जीवों का स्वरूप सर्व जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है किन्तु इसमें सब जीवों का देहों का परिमाण एक सरीखा न समझना चाहिये। असंख्यात तो असंख्यात प्रकार के होते हैं और इस शरीर में थोड़ा-थोड़ा बढ़-बढ़कर इतने भेद हो जाते हैं कि सर्व जघन्य शरीर तो घनांगुल के असंख्यातवें भाग में है और सबसे बड़ा शरीर १००० योजन का लम्बा, ५०० योजन का चौड़ा और २५० योजन का मोटा मच्छ का शरीर है जो कि स्वयंभूरमण समुद्र में पाया जाता है और इस बीच संख्यात प्रदेश बढ़-बढ़कर असंख्यात प्रकार के हो जाते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सब द्रव्यों के प्रदेशों के परिणाम के कथन की समाप्ति का संकेत—यहाँ तक काल द्रव्य को छोड़ कर सभी द्रव्यों का अवगाह और प्रमाण ज्ञात हुआ है और उन सब वर्णनों से निष्कर्ष रूप यह समझ लेना चाहिए कि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु का अवगाह है, क्योंकि अन्य द्रव्यों का भिन्न-भिन्न रूप में अवगाह बताया जा चुका। जैसे धर्म अधर्म द्रव्य का अवगाह सम्पूर्ण लोकाकाश में है। पुद्गल का अवगाह एक प्रदेश आदिक में है। जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्येय भाग आदिक में है तो उससे अब और क्या बचता है ? सो वह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि काल द्रव्य का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश पर है। ऐसे असंख्याते काल द्रव्य हैं और उन सब का एक-एक प्रदेश पर ही अवगाह है।

लोक प्रदेश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी अनन्त जीवों का असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में कैसे अवगाह हो जाता है की जिज्ञासा—इस अध्याय में पहिले यह बताया गया था कि एक जीव लोकाकाश के बराबर असंख्य प्रदेश प्रमाण वाला है और ऐसे जीव अनन्तानन्त हैं। तब एक ही जीव का प्रदेश प्रमाण लोकाकाश के बराबर है और ऐसा ही प्रमाण है समस्त अनन्त जीवों का तो वे सभी जीव एक लोकाकाश में कैसे समा जाते ? जीवों को साधारण रूप से संख्या इस तरह समझ लेना चाहिए कि सबसे कम जीव मनुष्य गति में पाये जाते हैं लेकिन वे भी असंख्यात हैं। जो पर्याप्त मनुष्य हैं उनकी संख्या तो करीब २१ अंक प्रमाण है, किंतु लब्ध्य् पर्याप्तक मनुष्य हैं कर्म भूमिज महिलाओं के कांख आदिक अवयवों में उत्पन्न होते रहते हैं। एक श्वांस में १८ बार जन्म मरण करते हैं ऐसे लब्ध्य् पर्याप्तक मनुष्य असंख्यात हैं। इस तरह मनुष्य गति के जीव हैं तो अधिक किंतु अन्य गतियों से सबसे कम हैं। उनसे अधिक जीव नारकियों में हैं। नरकगति के जीव मनुष्य गति से अधिक हैं। उनसे अधिक देवगति में हैं। उनसे अधिक त्रस जीव है, उनसे अधिक निगोद को छोड़कर शेष स्थावर जीव हैं। उनसे अनन्तगुने सिद्ध जीव हैं और उनसे भी अनन्तगुने निगोदिया जीव हैं। इतने अनन्तानन्त जीव एक लोकाकाश में कैसे ठहर जाते हैं ? यह एक आशंका होती है। उसके समाधान में अब सूत्र कहते हैं।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥५-१६॥

जीव प्रदेशों का संकोच विस्तार होने के कारण लोकाकाश में अनन्त जीवों के अवगाह की सिद्धि—जीव का लोकाकाश के असंख्यात भाग आदिक में अवगाह है इसका कारण यह है कि जीव के प्रदेशों का संहार और विसर्प होता है अर्थात प्रदेशों का संकोच और फैलाव हुआ करता है। जैसे दीपक का प्रकाश। यदि घड़े में दीपक हो तो उतने में रहेगा। कमरे में दीपक हो तो उतने में रहेगा बहुत बड़ी हाल में दीपक हो तो उतने में रहेगा। तो जैसे आधार के कारण दीपक के प्रकाश में संकोच और विस्तार होता है इसी प्रकार जीव के प्रदेशों का निमित्तवश संकोच और विस्तार होता है। वह निमित्त क्या है सो अभी बतायेंगे ? यहाँ सूत्र के अर्थ के समय तत्काल यह जानना चाहिये कि जीवों का लोक के असंख्यातवें भाग आदिक में अवगाह होने का विरोध नहीं है। क्योंकि जीवों के प्रदेशों का संकोच और विस्तार हुआ करता है, जैसे कि दीपक। यद्यपि प्रत्येक आत्मा का स्वभाव अमूर्तपना है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित अमूर्त है यह आत्मा, तो भी अनादि काल से कर्मों का सम्बन्ध चला आ रहा है। सो उस पुद्गल कर्म के साथ तथा पुदगल कर्म के विपाक प्रतिफलन के साथ मोही जीव का एकपना हो रहा है। इस कारण आत्मा कथञ्चित मूर्त बन रहा है सो यह

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्मा यद्यपि लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात प्रदेशी है। किंतु कार्माण शरीर के वश से जो सूक्ष्म स्थूल शरीर ग्रहण में आया उस सूक्ष्म शरीर के मिलने पर सूखे चमड़े की तरह प्रदेशों में संकोच हो जाता है जैसे कोई चमड़ा गीला व फैला हुआ है और सूखने पर सिकुड़ जाता है। ऐसे ही छोटा शरीर मिलने पर जीव के प्रदेश सिकुड़ जाते है और स्थूल शरीर मिलने पर उसके बराबर फैल जाते हैं। जैसेकि जल में तेल गिरे तो वह तेल जल के बराबर फैल जाता है। इस सूत्र में दृष्टांत दिया है दीपक का। वह बिल्कुल स्पष्ट है। सबको इसमें निर्विवाद ज्ञान है कि दीपक को जैसा आधार मिले वैसा ही संकुचित अथवा विस्तृत हो जाता है।

आत्मा के आधार का निश्चय व व्यवहार से निर्देशन—इस कथन में यह जाहिर हो रहा है कि आत्मा का आधार शरीर है अथवा आकाश प्रदेश है। पर निश्चयतः देखा जाय तो कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधार में नहीं है। यह सब व्यवस्था व्यवहार से बताई जा रही है और व्यवहार से ही अनेक घटनाओं का बोध होता है। स्पष्टतया एक ही भव में देखा जाता कि जब कोई छोटा बालक है, शिशु है तब उसका आत्मा बहुत छोटे देह प्रमाण है। वही जब बड़ा हो जाता है, युवक हो गया तो उससे चौगुने प्रमाण आत्मा का फैलाव हो जाता है।

जीव के प्रदेशों के संकोच विस्तार की मीमांसापूर्वक समर्थन—यहाँ शंकाकार कहता है कि एक अनुमान प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार नहीं हैं। वह प्रमाण क्या है कि आत्मा अपने प्रदेशों के संकोच और विस्तार को नहीं धारण करता, अमूर्त द्रव्य होने से, जैसे कि आकाश। आकाश, अमूर्त द्रव्य है तो उसमें संकोच विस्तार नहीं होता। तो आत्मा भी अमूर्त द्रव्य है, अतः उसके प्रदेशों में संकोच विस्तार नहीं हो सकता। इस पूर्व पक्ष के समाधान में कहते हैं कि उनका यह पक्ष अनुमान और आगम प्रमाण से बाधित हो जाता है। देखिये अनुमान प्रमाण। आत्मा अपने प्रदेशों के संकोच और विस्तार को तादात्म्य होकर धारण करता है क्योंकि बड़े परिमाण वाले और अल्प परिमाण वाले देशों में यह आत्मा व्यापक हो जाता है। दीपक के समान। जैसा कि यहाँ ही स्पष्ट हो रहा है कि बालक के शरीर में थोड़े देश में आत्मा रह रहा है। वही जब युवक होता है तो बहुदेश में आत्मा व्यापक हो जाता है। यहाँ कहीं ऐसा नहीं है कि शिशुअवस्था का जीव न्यारा हो और कुमार अवस्था का जीव न्यारा हो। जीव वही एक है, अनुभव सिद्ध है, और जो सत् है वह अनादि अनन्त होता है। वही जीव एक ही भव में क्या उसके जितने भी भव होते हैं सभी भवों में वे जीव वही वही एक एक रहते हैं। अपने आप को व हम आप सभी कोभी यहप्रत्यभिज्ञानहो रहा है किजो उसबालकमें था वही अब युवा हुआ। जो पहले पतला था वही अब मोटा हुआ है इसलिए इस ही एक देह में उस ही एक जीव का ज्ञान होता है। सो अनुमान बाधित है—शंकाकार का पूर्वपक्ष तथा आगम बाधित भी है। स्याद्वाद शासन में संसारी जीवों के प्रदेशों का संकोच और विस्तार बताया गया है। उनका यह कथन अप्रमाण नहीं है। आगम की प्रमाणता अनेक प्रमाणों से अनेक बार सिद्ध की जा चुकी है।

आत्मा के सर्वव्यापकत्व की बात रखकर व बटवृक्षफल की तरह अतीव अल्पत्व की बात रखकर आत्मप्रदेशों में संहार विपर्य न होने के पूर्वपक्ष व उनके समाधान—यहाँ शंकाकार कहता है कि आत्मा तो सर्वव्यापी है। सो सर्वव्यापी होने के कारण प्रदेशों का संकोच और विस्तार नहीं हो सकता। जैसे कि आकाश सर्वव्यापी है तो आकाश के प्रदेशों का संकोच और विस्तार नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता। ऐसा शंकाकार का कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश तो सर्वव्यापक है, किंतु आत्मा सर्वव्यापक नहीं है। अब यहाँ दूसरा शंकाकार कहता है कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है। तो यह मानों कि आत्मा वट वृक्ष के फल की तरह अत्यन्त छोटा है अथवा हजारों बार टुकड़े किये गए बाल के अग्र भाग प्रमाण अत्यन्त छोटा है, फिर भी आत्मा के प्रदेशों का संकोच और विस्तार मानने का कोई अवकाश नहीं रहता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ऐसा मानने में तो प्रत्यक्ष विरोध है। सभी जीवों को अपने पूरे शरीर में एक साथ आत्मा का अनुभव होता है। यदि आत्मा अत्यन्त छोटा है तो शरीर के जिस हिस्से में आत्मा होगा उतने हिस्से में ही आत्मा का सम्वेदन हो सकेगा। हाथ, पैर, पेट, मस्तक आदिक अनेक अंग हैं। सब जगह आत्मा का संवेदन न हो सकेगा। दुःख-सुख भी शरीर के किसी एक हिस्से में ही अनुभूत हो पायेंगे। पूर्ण हिस्से में अनुभूत न होंगे। जैसे कि इस शरीर में यह पूर्ण आत्मा बना हुआ है उसमें सुख-दुःख का संवेदन न होगा। यहाँ यह शंकाकार यह कहे कि आत्मा तो वटफल की तरह छोटा ही है मगर उस आत्मा का शीघ्र भ्रमण होते रहने से सारे शरीर में दुःख सुख ज्ञान का संवेदन होता रहता है। जैसे कि किसी एक गोल चाक में कोई काली बूंद लगी हो तो उसके भ्रमण के समयका ली बूंद सब ओर दिख जाती है। यह कहना भी संगत नहीं है। यदि इतने बड़े शरीर में वट के बीज बराबर आत्मा माना जा सकता है और वही एक आत्मा खूब तेज चक्कर लगाकर सारे शरीर में आत्मा का अनुभव कराता है तो फिर सारे लोक भर में सिर्फ एक ही आत्मा वट बीज की तरह छोटा क्यों नहीं मान लिया जाता? जैसे एक आत्मा इतने बड़े शरीर में तेजी से चक्कर लगाता है तो ऐसे ही उनका एक आत्मा संसार के सब जीवों के शरीर में तेजी से चक्कर लगाता रहे और उससे सब अनुभव चलते रहेंगे। यदि शंकाकार यह कहे कि सम्पूर्ण शरीरों में एक ही आत्मा का चक्कर लगाना मानने पर जब वह आत्मा किसी शरीर में पहुंचता है तो चूंकि बाकी जितने शरीर हैं वे सब व्यक्त हो जायेंगे, मृतक हो जायेंगे इस कारण एक आत्मा सारे जीव शरीरों में चक्कर नहीं लगाता। वह तो एक ही शरीर में चक्कर लगाता है। इसका उत्तर यह है कि यह ही प्रसंग यहाँ भी आ जायेगा। इस शरीर में भी चक्कर लगाता हुआ आत्मा जिस क्षण हाथ में पहुँचा उस क्षण बाकी शरीर मृतक हो जाना चाहिये। दूसरी बात यह भी देखिये कि जैसे शीघ्र भ्रमण कर रहे हुये चाक पर काली बूंद चारों ओर दिखती है तो रीता स्थान भी तो दिखता रहता है। तो इसी तरह के वे रीते स्थान शरीर के वे रीते अंग चेतन विहीन हो जायेंगे लेकिन सभी जीवों को अपने संवेदन प्रत्यक्ष से यह प्रतीत हो रहा है कि आत्मा शरीर प्रमाण है।

पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्यभूत आत्मा के प्रदेशों के संकोच विस्तार का समर्थन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि यह जीव मिले हुये विभिन्न शरीरों के अनुसार अपने प्रदेशों का संकोच विस्तार करता है तो जीव अनित्य बन जायेगा। जैसे कि दीपक। उसके आकाश का संकोच विस्तार होता है—तो वह अनित्य होता है, इस शंका के उत्तर में समाधान यह है कि यह बात तो स्याद्वाद में इष्ट ही है पर्यायार्थिकनय की दृष्टि में आत्मा अनित्य है, हाँ द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आत्मा नित्य है, दीपक की तरह। जैसे वही दीपक पुद्‌गल द्रव्य की दृष्टि से तो नित्य है, प्रदीप, प्रकाश पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक होती है। जो भी सत् है वह नियम से नित्यानित्यात्मक होता है। चाहे उसकी अनित्य पर्यायें सूक्ष्म होने से विदित न हों, पर द्रव्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सदा रहता है और पर्यायें बदलती रहती हैं। यह पूर्व तथ्य है। यदि ऐसा न हो तो वह वस्तु ही न रहेगा।

जीव के प्रदेशों के टूट जाने व अलग हो जाने की शंका और उसका समाधान—अब शंकाकार एक शंका और कर रहा है कि जीव के प्रदेश माने हैं और प्रदेश मानने के मायने यह हैं कि वह अवयव सहित है। और अभी यह बताया ही है कि वह अनित्य है। तो जो अवयव सहित होता और अनित्य होता है उसके अवयव फैलकर मिट जाते हैं घट की तरह। जैसे घट अवयव सहित है और विनाशीक है तो घट फूटकर खपरियाँ या छोटे छोटे कण के रूप में उनके अवयवों का टूट जाना हो जाता है। इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंका संगत नहीं है, क्योंकि इस मन्तव्य का, हेतु का आकाश के साथ व्यभिचार होता है। आकाश भी तो अनन्त प्रदेशी है, याने शंकाकार के शब्दों में अवयव सहित है और साथ ही द्रव्य होने के कारण क्षणभंगुर है— पर्याय दृष्टि से, मगर उसके अवयवों का तो टूटना नहीं होता है, पर्यायार्थिक दृष्टि से आकाश भी कथञ्चित् अनित्य है और अनन्त प्रदेश होने से अवयवों सहित तो है ही मगर आकाश के अवयव तो टूटते फूटते हैं नहीं, इस कारण यह हेतु दूषित रहा कि जो अवयव सहित हो और विनाशीक हो उसके अवयव सब टूटकर खिर जाते हैं। तो जीव अखण्ड द्रव्य है। असंख्यात प्रदेशी है नित्य है और पर्याय दृष्टि से पर्यायें उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं अतएव अनित्य है, फिर भी जीव के प्रदेशों का कभी टूटना नहीं होता।

आत्मा के अखण्डत्व की सिद्धि—अब आत्मा के अखण्ड होने का एक अनुमान और सुनो, आत्मा के कुछ भी अवयव विशीर्ण नहीं होते, क्योंकि आत्मा के प्रदेश अकारणपूर्वक हैं जो कारणपूर्वक पिण्ड बनता हो, अवयव बनता हो उसके अवयव तो खिर सकते हैं मगर जो अनादि काल से बिना ही कारण अनेक प्रदेशी है उसके प्रदेश कभी खिरते नहीं हैं, घटपट, पुस्तक आदिक पदार्थ जो बिखरते देखे जा रहे हैं उनके वे अवयव अथवा स्कन्ध पिण्ड तो कारणपूवक हुये हैं। मिट्टी का लोंधा बनाया, उसको विधि से घड़ा बनाया तो घट जो अवयवी बना। वह कारणपूर्वक बना है, इस कारण उसके अवयव टूट जाते हैं। मगर आत्मा आकाश की तरह बहुप्रदेशी है। उसके प्रदेश कभी खिरते नहीं हैं अथवा वस्तुतः जीव के प्रदेश अवयव नहीं कहलाते, वस्तु होने के कारण प्रदेश तो कह सकते किन्तु उन्हें अवयव नहीं कह सकते, क्योंकि अवयव शब्द का अर्थ है जो चारों ओर से मिले और खिरे उसे अवयव कहते हैं। अवयव शब्द में अब उपसर्ग है और यु धातु है जिसका अर्थ है मिश्रण और अमिश्रण। तो इस यु धातु से अप् प्रत्यय हो जाने पर अवयव शब्द बनता है। तो अवयव शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें विश्लेषण हो वहाँ अवयव कहा करते हैं, पर आत्मा आकाश एक परमाणु इनमें अवयव नहीं कहा जा सकता और आत्मा आदिक में जो बहुत प्रदेश मानते हैं सो कहीं स्कंध की तरह मुख्य प्रदेश नहीं हैं, अवयव रूप नहीं हैं किन्तु एक अखण्ड द्रव्य विस्तार में कितना बड़ा है उसके प्रदेशों की नाप से उसे परखा जाये तो जीव असंख्यात प्रदेशी सिद्ध होता है। आकाश अनन्त प्रदेशी है, यह व्यवहार बनता है। जीव की अखण्डता का साधक एक अनुमान यह भी है कि जीव के अवयवों का विसरण नहीं होता। क्योंकि जीव अविभागी द्रव्य है। जो अविभागी द्रव्य होते हैं उनके अवयवों का टूटना नहीं होता। जैसे आकाश आत्मा त्रिकाल में भी कभी विभाग को प्राप्त नहीं होता। अमूर्तपन होने के कारण यह भी एक अनुमान है कि आत्मा अमूर्त है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अमूर्त जितने भी द्रव्य हैं उनके जितने भी प्रदेश माने गये हैं उन प्रदेशों का विसरण नहीं होता। अत. आकाश के समान आत्मा के प्रदेशों का भी फटना, टूटना, फूटना आदिक प्रसंग स्याद्वादियों के यहाँ नहीं आ सकता है।

आकाश और अन्य द्रव्यों के आधाराधेयपन का दिग्दर्शन—यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, जीव आकाश ये बहुप्रदेशी हैं, तिस पर भी ये अखण्ड हैं. और इनका आधार लोकाकाश है। तो इसका अवगाह आवास लोकाकाश में है। यहाँ कोई शंका करता है कि आकाश और धर्म अधर्म जीवादिक का आधार आधेय सम्बन्ध घटित नहीं होता, क्योंकि वह सहभावी है। जैसे गाय के बायें दायें जो दो सींग हैं वे सहभावी हैं। और सहभावी होने के कारण वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि बायें सींग का आधार दाहिने सींग या दाहिने या आधार बायां सींग है। इस अनुमान से जीव में और आकाश में आधार आधेयता सिद्ध नहीं हो सकती। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि सहभावी होने के कारण उनमें आधार आधेयता नहीं मानी जाती तो नित्य जो गुण गुणी हैं उनके साथ दोष आता है। जैसे आकाश तो गुणी है और आकाश में रहने वाला परम महत्त्व गुण बताया गया है. और हैं वे दोनों सहभावी। जब से आकाश है तब ही से वहाँ महत्त्व है किन्तु उनका आधार आधेय विदित होता है। आकाश में परम महत्त्व है, और भी देखिये—आत्मा द्रव्य है, गुणी है और उसमें द्रव्यत्व वस्तुत्व आदिक नित्य गुण सदा ही रहे हैं तो जीव और जीव के गुण ये अनादि से सहभावी हैं, परन्तु इनमें आधार आधेय भाव तो विदित हो रहा है इस कारण शंकाकार के द्वारा कहा गया सहभावीपन हेतु दूषित हो जाता है, याने ये जो सहभावी हैं उनमें आधार आधेयता नहीं होती, यह नियम नहीं बनता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जीव अखण्ड है। असंख्यात प्रदेशी है, और उसका लोकाकाश में अवगाह है। इस अनुमान प्रमाण से भी जीव के अवयवों का विसरण नहीं होता। वह अनुमान प्रमाण यह है कि जीव के अवयवों का विसरण नहीं हो सकता, क्योंकि यह अविभागी द्रव्य है, जो-जो अविभागी द्रव्य होते हैं उनके अवयवों का विसरण नहीं होता, जैसे आकाश परमाणु आदिक। आत्मा अविभागी द्रव्य है इसका कारण है कि यह अमूर्त हो रहा है। अमूर्त है आत्मा यह भली भाँति सिद्ध है। इसमें रूप, रस, गन्ध स्पर्श नहीं। ये तो केवल चेतनामात्र स्वरूप वाले अमूर्त पदार्थ हैं।

द्रव्यों के अवगाह, आधार व आधेयपने की प्रसिद्धि—यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म, जीवादिक द्रव्यों का यथासम्भव लोक के एकदेश में अथवा पूर्ण देश में अवगाह है। यहाँ धर्मादिक द्रव्य आधेय है और लोकाकाश आधार है, यह व्यवहारनय के आश्रय से समझना। निश्चयतः तो आकाश आकाश के आधार है, धर्मादिक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य के आधार हैं। यहाँ एक शंका हुई थी कि आकाश और धर्मादिक द्रव्यों में आधार आधेय सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्योंकि ये सहवर्ती हैं, जैसे कि बछड़े के बायें और दायें सींग। वे सहवर्ती हैं इस कारण उनमें परस्पर आधार आधेय नहीं है कि बायें सींग पर दाहिना सींग बैठा हो या दाहिने सींग पर बायां सींग बैठा हो, ऐसे ही जब अनादि काल से आकाश धर्मादिक द्रव्य एक साथ विद्यमान हैं फिर किसको आधार और किसको आधेय कहा जा सकता है? आधार और आधेय का पता तो वहाँ चलता है जहाँ आधार तो पहले रह रहा हो और आधेय बाद में आकर उस आधार में बैठ जाये। ऐसा इन द्रव्यों के सम्बन्ध में है नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस कारण आधार आधेय सम्बन्ध ठीक नहीं है। इसके समाधान में बताया कि शंकाकार का उक्त कहना इस कारण ठीक नहीं बैठता कि आत्मा और ज्ञान ये दोनों सहभावी हैं, फिर भी इनमें आधार आधेय विदित होता है। आकाश और उसका महत्त्व गुण ये दोनों सहभावी हैं फिर भी इनमें आधार आधेय भाव देखा जा रहा है तो ऐसे ही जीव और धर्मादिक द्रव्य सहभावी हैं फिर भी इनमें आधार आधेय भाव सिद्ध होता है। यह सब व्यवहारनय की दृष्टि से समझना है।

युतसिद्ध, समवेत, असमवेत, सहभावी पदार्थों में भी आधार आधेयपन की सिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि चूंकि आकाश धर्मादिक द्रव्य ये युतसिद्ध पदार्थ हैं अर्थात पृथक-पृथक हैं, इस कारण इनमें आधार आधेय नहीं बन सकता। जैसेकि अनेक कालद्रव्य। कालद्रव्य असंख्यात हैं और वे एक के पास एक धरे हुए अवस्थित हैं इस कारण वहाँ यह कल्पना नहीं बनती कि इस काल द्रव्य पर अमुक काल द्रव्य बैठा है। ऐसे ही चूंकि धर्म अधर्मादिक द्रव्य ये सब भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, आकाश भी भिन्न द्रव्य है इस कारण आकाश आधार है और यह पदार्थ आधेय है। यह बात नहीं बन सकती। समाधान में कहते हैं कि शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि आधार आधेय भाव का परिचय तो भली भांति भिन्न-भिन्न द्रव्यों में ही होता है। जैसे बर्तन अलग है, दही अलग है तो यहाँ आधार आधेय विदित हो जाता है कि बर्तन में दही है। गेहूं अलग हैं, बोरा अलग है, बोरे में गेहूँ भरने पर आधार आधेय भाव स्पष्ट विदित है। बोरे में गेहूँ हैं। तो जो हेतु दिया है वही हेतु साध्य से विरुद्ध बात को सिद्ध करता है। साधारण शरीर ही जिसका है ऐसे जीवों में भी परस्पर आधार आधेयपना विदित होता है अथवा घोड़े पर मनुष्य बैठा है। घोड़ा जुदी चीज है, मनुष्य जुदी चीज है और वहाँ जुदी दोनों चीजों में आधार आधेय भली भांति विदित हो रहा है इस कारण युतपने का हेतु देकर आकाश और धर्मादिक धर्मों में आधार आधेय का खण्डन करना संगत नहीं है। अब शंकाकार पुनः कह रहा है कि धर्मादिक द्रव्यों आधार का लोकाकाश नहीं है। क्योंकि सर्वदा समवाय सम्बन्ध से सहित नहीं हो रहे ये पदार्थ सदा एक साथ रहते हैं। यहाँ हेतु में दो बातें एक साथ कही गई हैं कि जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से न रहे और सदा रहें उनमें आधार आधेय भाव नहीं बनता है। जैसे घोड़े पर पुरुष बैठा है, यहाँ आधार आधेय भाव इस कारण बन रहा कि घोड़े का मनुष्य के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं है और फिर सहभाव है। समाधान—शंकाकार का यह हेतु देना युक्ति संगत नहीं है। देखिये जो पदार्थ जिस आधार में आधेय हो रहे हैं, वे सभी पदार्थ जिस आधारमें सदा समवाय सम्बन्ध से रह रहे हों और सहभाव रखने वाले न हों ऐसा कोई नियम नहीं है। आकाश आत्मा आदिक अधिकरणों में महत्त्व संख्या गुण आधेय हो रहे हैं और उनमें ये गुण सदा समवाय सम्बन्ध से रह रहे हैं तो ऐसा सदा समवाय की सिद्धि होते हुए भी वहाँ आधार आधेय भाव नहीं होता, ऐसा प्रतीत नहीं होता। सहभाव है और आधार आधेय है। और जैसे मटके में बेर यहाँ एक साथ रह रहे हैं, यों सहभाव तो देख रहे हैं पर मटके में बेर का सदा समवाय से न रहते हुए जो सहभावी हों उनमें आधार आधेय नहीं होता। यह कहना संगत न बन सका और साथ ही इसमें व्यभिचार दोष भी आता है। और पुद्गल इन दोनों में ही बात देख लीजिए। आकाश और पुद्गल का सदा समवाय सम्बन्ध है ही नहीं और सहभाव पाया जा रहा है और आधार आधेय भाव का अभाव नहीं है याने आकाश आधार है और पुद्गल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आधेय है। ऐसी ही सब लोगों को प्रतीति हो रही है। ये दिखने वाले पुद्गल के बड़े-बड़े स्कंध आकाश में हैं ऐसा सबको ज्ञात हो रहा है। तो आकाश का और इस पुद्गल का समवाय बताया नहीं है। सहभावपना है फिर भी आधार आधेयभाव का अभाव नहीं है। यहाँ शंकाकार कहता है कि हम आकाश और पुद्गल को भी अपने पक्ष कोटि में रख लेंगे तो उसमें भी आधार आधेय भाव नहीं है यह सिद्ध मानेंगे इसलिए कोई दोष नहीं आएगा याने आकाश और पुद्गल में हेतु भी हो गया कि सदा समवाय नहीं, पर ये सहभावी है। सो इसमें साध्य भी मान लिया जावे कि आकाश और पुद्गल में आधार आधेय भाव नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह हेतु बाधित है क्योंकि आकाश और पुद्गल द्रव्य का आधार आधेयपना छोटे-छोटे बालकों तक को भी प्रतीत हो रहा है। कुछ विचारशील पुरुष आकाश और पुद्गल को आधार आधेय से अलग कर देते हैं। यहाँ यह भी शंका न करना कि घट पट आदिक पदार्थ जो आकाश में दिख रहे हैं सो वे अब पुद्गल की पर्याय हैं। हम पुद्गल द्रव्य की बात कह रहे हैं कि द्रव्य का आकाश में आधार आधेयभाव नहीं है। समाधान में कहते हैं कि पर्याय द्रव्य से कथञ्चित अभिन्न है। पर्याय द्रव्य के प्रदेशों से दूर नहीं होती इसलिये उनमें सर्वथा भेद नहीं है। तो जब आकाश में घट पट आदिक पुद्गल पर्यायें मान रहे हों तो चूंकि पर्याय पुद्गल द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं है इस कारण पुद्गल हीं आधेय कहलाया, इस प्रकार यह भली भांति कथन सिद्ध है कि लोकाकाश और धर्मादिक द्रव्यों का परस्पर आधार आधेय भाव व्यवहारनय के आश्रय से जान लेना चाहिये।

निश्चयनय से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में आधार आधेयपने का अभाव—निश्चयनय की दृष्टि से किसी भी द्रव्य में परस्पर आधार आधेयभाव नहीं है क्योंकि सब अपने अपने स्वरूप से अवस्थित होते हैं। यदि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में स्थित हो जाये। निश्चयत: आधय बन जाये तो स्वरूप संकर का दोष लगेगा अर्थात फिर दोनों का स्वरूप मिश्रित कुछ विचित्र हो जायेगा। सो निश्चयनय से आधार आधेय भाव नहीं है और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ आश्रय आश्रयी भाव भी नहीं है। जो पदार्थ स्वय अपनी स्थिति रखने के स्वभाव को धारण किये हुये है उसको अन्य पदार्थ द्वारा स्थिति रखने की बात सोचना व्यर्थ है क्योंकि कोई भी पथार्थ अपनी सत्ता रखने किसी भी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता। और जो पदार्थ स्वयं अपना सत्त्व रखे हैं उसका सत्त्व दूसरे में नहीं पहुँच सकता। अब यहाँ व्यवहारनय का पक्ष रखने वाले यदि ऐसा कहें कि जो पदार्थ स्वयं स्थिति होने के स्वभाव वाला है उस ही पदार्थ की अन्य अधिकरण द्वारा प्रकटरूप से स्थिति कर दी जाती है याने आधार आधेय भाव जिसका प्रकट नहीं है तो पर्याय रूप से उनका प्रकट कर दिया जाता है अर्थात अप्रकटरूप से तो पदार्थ स्वयं स्थितिशील है, अपने आप में ही रहता है, पर प्रकट रूप से वह अन्य आश्रय से आधार आधेय भावरूप धारण करता है। तो इस शंका के समाधान में यह दृष्टव्य है कि शक्ति रूप से स्थित पदार्थ को जो कि दृश्यरूप प्रकट स्वरूप सत्त्व कर दिया जाता है तो क्या वह अधिकरण प्रकट स्थिति स्वभाव वाले को प्रकट सत्ता बनाता है या प्रकट सत्ता स्वभाव से रहित पदार्थ की सत्ता बनाता है? अगर कहो कि प्रकटरूप से भी स्वरूप सत्त्व की स्थिति है, ऐसा स्वभाव है पदार्थ का तो फिर अन्य का आधार आधेय बताना व्यर्थ है। यदि कहो कि पदार्थ में प्रकट सत्ता का स्वभाव नहीं है तो वह कभी किया भी नहीं जा सकता। यहाँ बात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह सिद्ध की जा रही है कि व्यवहारनय से तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ आधार आधेय आदिक सम्बन्ध देखा जाता है किंतु निश्चयनय से प्रत्येक पदार्थ का सत्त्व स्वयंसिद्ध है, इस कारण उनमें आधार आधेय भाव नहीं बनता। सो जो शंकाकार ने शक्ति और व्यक्ति से स्थिति स्वभाव का भेद करके आधार आधेयपन की बात ला दी है सो वह निश्चयनय की दृष्टि में संगत नही होती। अब शंकाकार उसी शंका का सम्बन्ध लेकर एक प्रसंग दोष दे रहा है कि स्थितिशील पदार्थ का अन्य पदार्थ के द्वारा नवीन स्थिति नहीं मानी जाती तब तो किसी पदार्थ का उत्पाद विनाश भी किसी प्रकार न बन सकेगा। क्योंकि यहाँ भी प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उत्पन्न-स्वभाव वाले पदार्थ वा उत्पन्न स्वभाव को न रखने वाले पदार्थ को किसी उत्पादक कारण द्वारा उत्पन्न माना जायेगा? तो जो जो दोष पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में दिये गये हैं वे सभी दोष दोनों पक्ष में आते हैं। कहा जा सकता है कि पदार्थ में यदि उत्पन्न होने का स्वभाव पड़ा है तो उत्पादक कारण द्वारा क्या किया जायेगा ? यदि उत्पाद स्वभाव रहित को उत्पादक कारण उत्पन्न करें यह माना जाये तो कितने ही कारण मिल जायें तो भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसे शंकाकर द्वारा दोष दिया जाना बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि निश्चयनय से सभी पदार्थों का स्वभाव से ही उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था है। व्यवहार नय की दृष्टि से ही पर्याय का उत्पाद व्यय देखा गया है और उन्हें सहेतुक माना गया है कि पदार्थ का उत्पाद व्यय किसी हेतु के द्वारा हुआ करता है तो ऐसे ही यहाँ भी मान लेना चाहिए कि समस्त पदार्थों का स्वरूप सत् अपने आप है और इस कारण निश्चयनयतः द्रव्यों का परस्पर आधार आधेय भाव नहीं है किंतु व्यवहानय से यह सब देखा जा रहा है कि आकाश में घट, पट आदिक का अवगाह है। आधार आधेय भाव व्यवहारनय से परखा जाता है।

निरंशवादियों को आधाराधेयपन की असिद्धि की शंका और उसका समाधान—अब यहाँ निरंशवादी दार्शनिक शंका करता है कि पदार्थ तो केवल एक समय में जो है सो ही है। वह दूसरे समय में नहीं ठहरता इसलिए उनके आधार आधेय भाव की कल्पना करना व्यर्थ है। शंका का उत्तर यह है कि यदि पदार्थ क्षणक्षय एकान्त मान लिया जाय, अर्थात प्रत्येक पदार्थ एक समय को ही रहता है। दूसरे समय में पदार्थ का अभाव हो जाता है। ऐसी हठ करने पर तो पदार्थ का सर्वथा अभाव ही हो जायेगा। कोई भी पदार्थ केवल एक क्षण रहता हो और उसका सत्त्व मूलतः नष्ट हो जाता हो, ऐसा है ही नहीं और फिर क्षणक्षय के एकान्त में उत्पाद व्यय ध्रौव्य का अभाव हो जायेगा। जैसे कि जो लोग पदार्थ को सर्वथा नित्य मानते हैं उनके मत में पदार्थ का उत्पाद व्यय सम्भव नहीं है। कूटस्थ नित्य का उत्पाद और विनाश नहीं होता। यह क्षणिकवादी भले प्रकार मानते हैं और जब उत्पाद विनाश नहीं है तो उसकी धारा में पदार्थ सदा रहे सो ध्रौव्य कहलाता सो ऐसा ध्रौव्य क्षणिकवाद में नहीं बनता। और ऐसे ही क्षणिक एकान्तवाद में भी किसकी उत्पत्ति है ? जब पदार्थ एक क्षणवर्ती है तो उनका कोई उपादान कारण ही नहीं बन सकता याने पदार्थ किसके उपादेय स्वरूप से परिणमे ? जैसे यहाँ देखा जाता है कि घड़े का उपादान कारण मिट्टी है तो घड़ा मिट्टी की ही अवस्थारूप से परिणमता है। अब क्षणिकवाद में उपादान कारण तो कुछ रहा ही नहीं तो वह किस रूप परिणमे और किससे किसकाविनाश हो सके ? पूर्व आकार का परित्याग करने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उत्तर आकार को ग्रहण करने में उत्पाद व्यय सिद्ध होता है सो क्षणिकवाद में उत्पाद व्यय तो बन सका, तो यों ध्रौव्य भी नहीं बन सकता। ध्रौव्य भी पर्याय अंश है। हाँ जो पदार्थ कालान्तर में रह रहे हैं उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों घटित हो सकते हैं। शंकाकार यदि यह मन्तव्य रखे कि हम उत्पत्ति केवल कल्पना से मानते हैं। विनाश तो बिना कारण के हो जाता है। ऐसा पदार्थ का स्वरूप है। पर उसकी उत्पत्ति कारणों की अपेक्षा रखती है किंतु वह सब सम्वृत्ति से है, व्यवहार से है, कल्पना से है। यहाँ समाधान में कहते हैं कि उन क्षणिकवादी दार्शनिकों की अपनी मनमानी कथनी है। जैसी रुचि हुई वैसा वहाँ कथन हो जाता है। यदि व्यवहारनय से उत्पत्ति का कारण मान लिया जाता है तो स्थिति और विनाश का भी कारणों से ही स्वरूप मानना पड़ेगा। परमार्थतः यदि विनाश और स्थिति को अहेतुक मान रहे हो तो उत्पाद को भी अहेतुक मानना पड़ेगा। इस कारण कल्पनाओं का व्यायाम मिटाकर पदार्थों में जो सीधी बात पायी जाती है उस प्रकार मानना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ अनादि से अनन्त काल तक है, और प्रति समय परिणमता रहता है। परिणमन की दृष्टि से उनमें उत्पाद व्यय विदित होता है और उत्पाद व्यय करते हुए सभी पदार्थ सदा काल सत्त्व रखते हैं यों पदार्थ का स्वरूप ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। सो जब सभी पदार्थ स्वरूप से सिद्ध हैं तो निश्चय से उन पदार्थों में आधार आधेय भाव नहीं हो सकता। इसी तरह निश्चयनय की दृष्टि में कार्य कारण भाव भी घटित नहीं होता। और इतना ही क्यों? गुरु शिष्यभाव, जन्यजनक भाव आदि ये भी निश्चयनय में नहीं हैं। सभी ये सम्बन्ध व्यवहारनय के अनुसार हैं। सो व्यवहारनय की दृष्टि से आकाश और अधर्म आदिक द्रव्यों में आधार आधेय भाव है। निश्चय से नहीं है। इस प्रकार इस प्रकरण तक द्रव्य का स्वरूप, द्रव्य के प्रदेश और द्रव्य का अवगाह भली भांति सिद्ध किया गया है। इन सब परिचयों से अपने आत्मा के स्वरूप की स्थिति जानना यह सब कथनों का प्रयोजन है।

अनेक गुणों से समान एकत्र अवस्थित पदार्थों में अभेद की आशंका और उसका समाधान करके सूत्रों द्वारा लक्षण भेद की प्रसिद्धि का प्रयास—यहाँ एक शंका होती है कि जहाँ धर्मद्रव्य है वहीं अधर्मद्रव्य है, आकाश है, अन्य पदार्थ भी हैं, उनका देश एक है। आकार भी धर्म अधर्म का एक है, समय भी एक है। तो इन सब बातों के कारण उनमें नानापन न होना चाहिये, अर्थात् वह सब एक ही वस्तु होनी चाहिये। समाधान यह है कि चूंकि इन सबका देश, संस्थान काल आदिक एक समान है इसी कारण ये नाना कहे जाते हैं, जिनकी आपस में समानता हो वे पदार्थ एक नहीं कहे जाते, किन्तु वे न्यारे-न्यारे हैं। जैसे गेहूँ का ढेर हो तो वे सब दाने एक समान हैं। एक समान हैं इस ही कारण से वे नाना कहलाते हैं। इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य ये भिन्न-भिन्न सत्ता रखने वाले हैं और उनके प्रदेश आदिक भी अपने-अपने कहलाते हैं। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि ये सब जब एक ही जगह विराजे हैं और उनमें जैसे घटपट आदिक पदार्थ हैं वे भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं, सो नानापन सही है पर धर्मादिक द्रव्यों में कुछ भी विशेषता को लाने वाला कुछ समझ में नहीं आता। तो अब इन शंकाओं को दूर करने के लिये पदार्थों का लक्षण कहा जायेगा और यह लक्षण व्यावहारिक ढंग से कहा जायेगा जिसका कि अनुमान प्रमाण से भी यह सिद्धि चलेगी कि हाँ यह पदार्थ है, तो सर्वप्रथम धर्म और अधर्म द्रव्य का लक्षण जाहिर करने के लिये सूत्र कहते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकार: ॥५-१७॥

धर्म व अधर्म द्रव्य के उपकार के निर्देश से उनके लक्षण की व लोक व्यापित्व की सिद्धि— गति और स्थिति उपग्रह ये धर्म और अधर्म द्रव्य के उपकार हैं, यहाँ पुद्‌गल आदिक का एक प्रदेश आदिक में अवगाह बताया था। वह तो ठीक समझ में आता था पर धर्म और अधर्म द्रव्य के जीवों की तरह असंख्यात प्रदेश होने पर भी ये धर्म अधर्म द्रव्य लोकव्यापी हैं, लोकाकाश में सम्पूर्ण प्रदेशों में रहते हैं, यह बात समझ में नहीं आयी, ऐसी यदि कोई पुन: जिज्ञासा करे तो उत्तर उसका यह है कि जैसे जल मछली के तैरने में उपकारक है अर्थात् जल के अभाव में मछली का तैरना सम्भव नहीं है उसी प्रकार जीव और पुद्‌गल की गति में और स्थिति में धर्म और अधर्मद्रव्य सहायक होते हैं। तो अब यहाँ यह समझना चाहिये कि जीव और पुद्‌गल की गति समस्त लोक में होती है तो उपकारक कारण भी सर्वगत होना चाहिये और इस ही कारण धर्म अधर्म द्रव्य समस्त लोक में व्यापक हैं। अब गति और स्थिति के लक्षण कहे जा रहे हैं। बाह्य और अन्तरंग कारणों से परिणमन करने वाले द्रव्य को जो अन्य देश में प्राप्त कराने वाली परिणति है उसको गति कहते हैं। जो पदार्थ गति कर रहा है वह अपने में नाना परिणमन कर रहा है और वे परिणमन सब अन्तरंग कारण उपादान की योग्यता से होते हैं, और बहिरंग कारण काल द्रव्य तो साधारण है ही, पर जो विषम परिणमन हुये उनमें अन्य कारण भी पड़ते हैं, तो ऐसे बाह्य और अन्तरंग कारणों से परिणमन करने वाले द्रव्य जो एक देश दूसरे देश में पहुँचते हैं, वह भी तो एक एक परिणति है तो उसकी इस परिणति का नाम गति है। स्थिति क्या कहलाती है ? अपने प्रदेश से च्युत न होने का नाम स्थिति है। स्थिति के दो अर्थ हैं—एक तो यह कि कोई चल रहा है और उसकी चलन क्रिया रुक गई, लो उसका ठहरना हो गया, अब इसके बाद जो ठहरना है वह इस रूप है कि अपने प्रदेशों से अब वह हिल नहीं रहा। वहीं का वहीं अवस्थित है। सो स्थिति का जो यह लक्षण है कि अपने देश से न हटना सो स्थिति है, यह लक्षण दोनों ही दशाओं में पाया जा रहा है और उसका व्यक्तिकरण चलते हुये पदार्थ का जो अपने देश में ठहरना है उस स्थिति से प्रकट होता है। तो गति और स्थिति ये दो उपग्रहण हैं अर्थात् जीव पुद्‌गल की गति और स्थिति की जो शक्ति है उस शक्ति के आविर्भाव करने में धर्म अधर्म निमित्त कारण पड़ रहे हैं।

सूत्रोक्त प्रथम पद के अर्थ का विवरण—अब इस सूत्र में कहे गये पहले पद का व्याकरण समास आदिक के अनुसार अर्थ प्रकट किया जा रहा है। प्रथम पद है, गतिस्थित्युपग्रहौ, इस पद में नाना प्रकार के विग्रह सम्भव हैं। यह भी कहा जा सकता कि यह बहुब्रीहि समास वाला पद है अर्थात् "गति और स्थिति उपग्रह हैं, जिनके" ऐसा भी समास किया जा सकता है, लेकिन यह बहुब्रीहि समास यहाँ नहीं है। यदि इस पद में बहुब्रीहि समास किया गया होता तो धर्माधर्मयो: यह पद षष्ठी में न रहकर प्रथमान्त हो जाता। धर्माधर्मौ यह शब्द बन जाता, क्योंकि इस समास से ऐसा ही संगत बैठेगा कि गति और स्थिति उपग्रह हैं जिनके ऐसे ये, धर्म और अधर्मद्रव्य हैं। किन्तु यहाँ धर्माधर्मौ नहीं कहा गया। इससे सिद्ध है कि यह बहुब्रीहि समास वाला पद नहीं है। यह भी सोचा जा सकता है कि यह षष्ठी तत्पुरुष होगा याने गति और स्थिति का उपग्रह, सो यह समास भी सम्भव नहीं है। यदि इस सूत्र में, इस पद में षष्ठी तत्पुरुष अभिप्रेत होता तो अवग्रहौ शब्द द्विवचन न होता किन्तु एकवचन होता। गति और स्थिति रूप उपग्रह और ऐसी ही संगति बैठती है कि धर्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

और अधर्म का उपकार है। सो यहाँ द्विवचनान्त कहा जाने से यह सिद्ध होता है कि यह तत्पुरुष समास भी नहीं है तब कौन सा समास है, सो देखिये—यहाँ समानाधिकरण की वृत्ति है इस कारण कर्मधारय समास है याने गति और स्थिति वे उपग्रह हैं। इस प्रकार ये दोनों धर्म और अधर्मद्रव्य के उपकार हैं, यह संगति सही बैठती है।

सूत्रोक्त विभक्तियों की संगति से धर्म व अधर्मद्रव्य के साधारण कारणपने का समर्थन—अब यहाँ उपकार शब्द की मीमांसा की जाती है कि इसकी व्युत्पत्ति किस तरह है ? क्या भावसाधन में है या अन्य प्रकार है ? तो उपकार शब्द से यहाँ भावसाधन की प्रधानता न देकर कर्ता में यह गुण है, इस प्रकार कर्तृसाधन प्रसिद्ध किया जाता है, क्योंकि यह उपकार कर्तृस्थ क्रिया है। याने जीव पुद्गल की गति और स्थिति रूप जो उपग्रह है सो यह उपकार याने ऐसी निमित्तरूप बात यह धर्म और अधर्मद्रव्य में पायी जाती है। और उपग्रह याने गति स्थिति रूप परिणमन यह जीव पुद्गल में पाया जाता है। सो कर्मस्थ क्रिया हो गई। सो दोनों साधनों में सूत्रोक्त विभक्ति संगत नहीं होती ? समाधान–जैसे कहा जाये कि साधु का कार्य क्या है ? तो उसका उत्तर होता है—तप और अध्ययन। तो कार्य तो एक पूछा गया है और उत्तर में दो बातें आयी हैं। तो ऐसे ही यहाँ उपकार शब्द तो एक वचन है। धर्म और अधर्म का उपकार क्या है ? तो उत्तर में आया है गति और स्थिति रूप उपग्रह। उपग्रहौ दो वचन में आया है। अथवा उपग्रह शब्द को भावसाधन मान लीजिये और इसी तरह उपकार को भी मान लीजिये जिससे कि अर्थ होता है कि गति और स्थिति रूप उपग्रहण और धर्म और अधर्म का उपकरण। अथवा इन दोनों को कर्मसाधन भी मान लीजिये। किन्हीं भी प्रकारों से माने, उसके एकान्त में कुछ न कुछ सिद्धान्त में कमी रह जाती है। अतः वास्तविकता तो यह है कि सामान्य कारण मानना चाहिये और सामान्य का ग्रहण भी करना चाहिये। तो परिणमनरूप या पूर्व पक्ष रूप में तो सामान्य का अर्थ है कि धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार और उत्तर में विशेष अर्थ है कि गति और स्थिति रूप उपग्रह।

एक वचनान्त उपकारः व द्विवचनान्त उपग्रहौ शब्द में वचन विषमता रखने का कारण—धर्म व अधर्म द्रव्य के भिन्न भिन्न उपकार का प्रदर्शन—अब यहाँ एक शंका यह होती है कि उपकारः शब्द एक वचन में है तो उपग्रह शब्द क्यों नहीं एक वचन में हुआ ? उत्तर यह है कि दोनों द्रव्यों के कार्य जुदे-जुदे हैं अर्थात् धर्म द्रव्य का उपकार तो जीव और पुद्गल की गतिरूप उपग्रह है और अधर्म द्रव्य का उपकार जीव और पुद्गल की स्थिति रूप उपग्रह है, इस कारण उपग्रह शब्द में द्विवचन का प्रयोग ही ठीक है। यदि एक वचन का प्रयोग किया जाता तो उससे यह अर्थ जाहिर होता कि धर्मद्रव्य ही तो जीव और पुद्गल की गति और स्थिति कराता है और अधर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गल की गति और स्थिति कराता है पर यह अर्थ अभीष्ट नहीं है, जुदा-जुदा उपकार है, इस कारण उपग्रहौ शब्द में द्विवचन लगाना ही संगत बैठता है। यह अर्थ बनता है कि स्वयं गति रूप परिणमे हुये जीव और पुद्गल को उस गति के उपग्रह के कारण रूप से अनुमान किया गया धर्मास्तिकाय है और इसी प्रकार स्थिति रूप से परिणमने वाले जीव पुद्गल के बाह्य उपग्रह के कारण रूप से अनुमान किया गया अधर्मास्तिकाय है और चूँकि यह गति और स्थिति रूप उपग्रहण समस्त लोकाकाश में होता है, इस कारण ये दोनों लोकाकाश में पूर्णतया व्याप्त हैं।

उपकारः शब्द से ही अर्थ सम्भव होने पर उपग्रहौ शब्द कहने की व्यर्थता की शंका—अब

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहां एक शंका उपस्थित होती है कि जब उपकार शब्द इस सूत्र में दिया गया है तो उसका अर्थ ध्वनित हो जाता, तो उपग्रह शब्द कहना व्यर्थ है। अर्थ भी वही हो जाता कि धर्म और अधर्म का उपकार गति और स्थिति है। और सूत्र भी छोटा बन जाता—गति स्थिति धर्माधर्मयोरुपकारः, यहाँ कोई यह भी शंका न करे कि यदि उपग्रह शब्द न देते और सूत्र में लघुता बनावें तो कर्ता का प्रसंग आ जाता कि धर्म और अधर्म द्रव्य जीव पुद्गल की गति और स्थिति के कर्ता हैं। तो इस प्रकार कर्तृत्व के प्रसंग का संदेह न करना, क्योंकि उपकार शब्द यहाँ कहा गया है। गति और स्थिति को धर्म अधर्म जबरदस्ती नहीं कराता किन्तु गति और स्थिति में धर्म अधर्म का उपकार है अर्थात् अवलम्बन है, और इस प्रकार स्वतन्त्र कर्तापन भी गति स्थिति का धर्म अधर्म में नहीं आता : जैसे कि कोई अन्धा पुरुष चल तो रहा है अपनी जंघा के बल से पर, लकड़ी उसके लिये उपकारक हो रही है तो इसका अर्थ यह है कि वह अन्धा पुरुष लकड़ी से प्रेरित नहीं हो रहा, किन्तु स्वयं चले तो उसमें लकड़ी बलाधान रूप है, प्रेरक नहीं है, इस प्रकार अपनी शक्ति से ही चलने वाले और ठहरने वाले जीव और पुद्गल का धर्म अधर्म उपकारक है, किन्तु प्रेरक नहीं है। चलना और ठहरना तो जीव और पुद्गल का अपनी शक्ति में ही हो रहा है, उसको धर्म और अधर्म नहीं करते। मगर स्वयं चलें और ठहरें तो उनकी इस क्रिया में धर्म और अधर्मद्रव्य बलाधान रूप हैं अर्थात् अवलम्बनमात्र हैं और फिर सूत्र जो लघु बना है उससे ही यह साबित होता है कि धर्म और अधर्मद्रव्य गति और स्थिति का प्रधानतया कर्ता नहीं है। यदि प्रधान कर्ता बताना होता तो सूत्र यों बनाते कि गति स्थिति धर्माधर्मकृते, किन्तु ऐसा सूत्र नहीं किया, इससे ही यह सिद्ध है कि प्रधानकर्ता नहीं कहा जा रहा। तो इस प्रकार उपग्रह शब्द कहना यह व्यर्थ पड़ता है।

यथार्थ अर्थ की संगति के लिये उपग्रह शब्द की सार्थकता बताते हुये उक्त शंका का समाधान—उक्त शंका का उत्तर कहते हैं कि उपग्रह शब्द कहना यह व्यर्थ नहीं है, व्यर्थ सा मालूम पड़ रहा। यह उपग्रह शब्द इस बात को सिद्ध करता है कि यहाँ शब्द का क्रम से उठाकर अर्थ न लगाना कैसा कि आत्मा की गति रूप परिणमन का उपकार तो धर्म का है और पुद्गल की गति परिणाम का उपकार धर्म का नहीं है, इस प्रकार पुद्गल की स्थिति रूप परिणमन का उपकार अधर्मद्रव्य में है, आत्मा की स्थिति रूप परिणमन का नहीं है, इस तरह क्रम वाली बात नहीं लेना है। इसको सिद्ध करता है उपग्रह शब्द। यदि शंकाकार यह कहे कि उसका व्याख्यान बना दिया जायेगा। उससे यह सिद्धान्त का अर्थ कह दिया जायेगा सो यह बात भी संगत नहीं, क्योंकि इस तरह तो व्याख्यान विशेष कहना पड़ेगा और उसमें समझ में विलम्ब भी होगा। बुद्धि में खेद न हो इस कारण उपग्रह वचन ही कह दिया ताकि आगे कुछ सोचने का व्यायाम ही न करना पड़ेगा।

जीव और पुद्गलों की गति व स्थिति में धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य की ही साधारण कारणरूपता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि चलना, ठहरना यह सब तो हमको आकाश का उपकार दिख रहा, ये जीव पुद्गल आकाश में ठहर रहे, आकाश में चल रहे, आकाश बिना कैसे चलना, कैसे ठहरना ? सो सारा उपकार आकाश का ही है, और धर्म, अधर्म की कल्पना करना व्यर्थ है। समाधान इसका यह है कि आकाश तो धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, आत्मद्रव्य, पुद्गलद्रव्य इन सबका आधार रूप है, गति और स्थिति का निमित्त रूप नहीं है। जैसे किसी नगर के अन्दर जो मकान आदिक खड़े हैं उनका आधार नगर है ऐसे ही धर्मादिक ५ द्रव्यों का आधार आकाश है। तो किसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक पदार्थ का धर्म दूसरे पदार्थ में नहीं जोड़ा जाता, धर्म अधर्म द्रव्य का गति स्थिति में उपकार रूप धर्म आकाश में न जोड़ा जा सकेगा। यदि एक का धर्म दूसरे द्रव्य में जोड़ दिया जाये तो जल और अग्नि में गुण जो द्रवण और दहन हैं उन्हें पृथ्वी के ही मान लिये जायें। फिर शकाकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदिक को अलग-अलग पदार्थ क्यों मानता है? और इस तरह भी निरखिये कि ये जैसे मछली का गमन जल के उपग्रह से होता है यदि जल न हो तो जमीन पर तो मछली नहीं चलती। सो जैसे यहाँ यह सोचा जा सकता है कि जल आकाश का कार्य है तो आकाश तो पृथ्वी पर भी है, वहां क्यों नहीं मछली चल पाती? तो इससे मालूम होता है कि भले ही आकाश में मछली का अवस्थान है लेकिन मछली के चलने में सहायक जल है, और जल मछली को जबरदस्ती चलाता नहीं है किन्तु गति रूप परिणमने वाली मछली को जल अवलम्बन है, ऐसे ही यहाँ यह समझना कि गति और स्थिति रूप परिणमने वाला आत्मा और पुद्‌गल का धर्म और अधर्म के उपग्रह से चलना और ठहरना होता है, आकाश के उपग्रह से नहीं। यदि आकाश के उपग्रह से जीव और पुद्‌गल का चलना ठहरना होता तो अलोकाकाश में भी जीव और पुद्‌गल का चलना ठहरना होने लगता फिर तो लोक और अलोक बराबर रहें। अरे जहाँ तक वे द्रव्य रहते हैं वह लोक है और जहाँ मात्र आकाश है अन्य द्रव्य जहाँ नहीं रहता वह अलोक है। लोक है तो अलोक भी है, यह सिद्धि भी इस तत्त्व का साधन करती है कि लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, जिनके अवलम्बन से जीव और पुद्‌गल का चलना और ठहरना होता है। सो धर्म अधर्म द्रव्य हैं जिनके आलम्बन से जीव और पुद्‌गल का चलना और ठहरना होता है। सो धर्म अधर्मद्रव्य होने पर भी ये जीव और पुद्‌गल को जबरदस्ती नहीं चलाते और न ठहराते, किन्तु ये मात्र बाह्य कारण रूप ही पड़ते हैं और वहाँ यह अन्वय व्यतिरेक बन जाता है कि जीव व पुद्‌गल चले तो धर्मद्रव्य के सन्निधान में ही चल सकता है, धर्मद्रव्य के अभाव में नहीं, इसी प्रकार जीव व पुद्‌गल ठहरे तो अधर्मद्रव्य के सन्निधान में ही ठहर सकता है। अधर्मद्रव्य के अभाव में नहीं। जैसे कि मछली चले तो जल के सन्निधान में ही चल सकती है जल के अभाव में नहीं। तो यहाँ इस दृष्टान्त में कहीं यह न समझना कि मछली के चलने में धर्मद्रव्य सहायक है, यह कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि जल ही सहायक दिख रहा है। सो बात यह है कि कोई साधारण कारण होता है, कोई विशेष कारण होता है, जीव और पुद्‌गल के चलने में साधारण कारण धर्मद्रव्य है, इसी तरह मछली के चलने में भी साधारण कारण धर्मद्रव्य है। पर विशेष कारण जल है। तो कहीं धर्म और अधर्मद्रव्य का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे मनुष्यों के अवस्थान में यह भूमि कारण पड़ रही है पर आकाश न हो तो कहाँ रहे? तो आकाश तो हुआ साधारण सब जगह है और भूमि हुई विशेष। सो ऐसे ही मछली के चलने में धर्मद्रव्य तो साधारण कारण है, वह तो है ही, पर विशेष कारण जल आदिक हैं, सो स्वयं गति, क्रिया रूप से परिणम रहे जीवों को पुद्‌गलों को धर्मद्रव्य आलम्बन रूप कारण होता है।

विभुपना होने से आकाश का ही गति स्थिति उपकार मानने की हठ करने वाले वैशेषिकों के दिशा काल व्यवहार का उपकार आकाश का ही माना जा सकने से अन्य पदार्थों की मान्यता की व्यर्थता—यहां निमित्तपने की मुख्यता से धर्म और अधर्म द्रव्य का लक्षण कहा जा रहा है जिससे कि यह प्रकट हो कि धर्म अधर्म आदिक द्रव्य एक क्षेत्र में एक साथ सर्वत्र रहते हुये भी ये परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। तो यहाँ उपकार बताया गया कि धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार गति और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्थिति रूप उपग्रह करना है। उपग्रह क्रिया तो जीव और पुद्गल में पायी जाती है और उपकारपने का निमित्तपना धर्म व अधर्म द्रव्य में पाया जाता है, और इस प्रकार जीव पुद्गल की गति और स्थिति में हेतुपना होने के परिचय से धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य का लक्षण प्रसिद्ध होता है। इस विषय में यहाँ एक शंकाकार कहता है कि गति और स्थिति के होने में आकाश ही पर्याप्त है याने आकाश के ही कारण जीव पुद्गल की गति हो रही है और आकाश व्यापक भी है। वही सर्व द्रव्यों की गति और स्थिति का साधारण कारण रहा आये। धर्म और अधर्म द्रव्य के मानने की कुछ आवश्यकता नहीं। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि इस प्रकार विभुपना होने से आकाश को ही सबका साधारण कारण मान लिया जाये तो इसमें सभी दार्शनिकों के सिद्धान्त में विरोध आता है। जैसे कि कोई दार्शनिक मानते हैं कि आकाश, काल, दिशा, आत्मा ये सर्वगत होकर भी अपने-अपने लक्षण में नियत हैं, तो यहाँ यह कह सकते हैं कि दिशा के निमित्त से जो व्यवहार होता है कि यह तीन तरफ है। तो वह तो आकाश का ही भाग बताया गया। आकाश के इस भाग से आकाश के इस भाग तक है। तो दिशा का जो काम है वह आकाश से ही निकल आया, फिर दिशा मानने की उन दार्शनिकों को जरूरत नहीं रहती है। इस प्रकार काल के निमित्त से यह व्यवहार होता है कि यह जेठा है, यह लघु है, यह आगे है, यह पीछे है, सो यह व्यवहार आकाश के बिना तो हो ही नहीं सकता। यदि आकाश का ही यह सामर्थ्य मान लिया जाये तो लो यों काल का भी अभाव हो गया और सभी आत्मा एक बन बैठेंगे। यदि व्यापी होने से आकाश का ही काम गति और स्थिति का उपग्रह मान लिया जाये तो एक ही आत्मा व्यापक होने से सभी जगह चेतन को बनाता रहे तो सब आत्मा एक बन बैठेंगे। फिर तो जो बुद्धि सुख दुःख आदिक अनेक अन्तर बताकर आत्मा को नाना बताया है वह उनके विरूद्ध हो जायेगा। सो यदि आकाश को ही व्यापक होने से गति और स्थिति का कारण माना हुआ है तो लो यहाँ इन वैशेषिकों के दिशा, काल आदिक कुछ न रहे। आत्मा भी नाना न रहे, सो इन दोषों को दूर करने की अभिलाषा है तो उन्हें यह भी मान लेना चाहिए कि गति और स्थिति का उपग्रह धर्म और अधर्म द्रव्य के निमित्त से होता है।

विभुपना होने से जीव पुद्गलों की गति स्थिति को आकाश का ही उपकार मानने की हठ करने वाले सांख्यों के व्यापक सत्व में ही रजो तमो गुण का अन्तर्भाव होने से त्रिगुणात्मकता की मान्यता का खण्डन—अच्छा, और देखिये—सांख्य सिद्धान्त वाले मानते हैं तीन गुण-सत्त्व, रज और तम। और जिसके काम बतलाते हैं—प्रसार और लाघव तो सत्त्व गुण का काम है, शोषण और आताप करना रजोगुण का काम है और आवरण तथा विघात करना तमोगुण का काम है, ऐसा भिन्न स्वभाव भी मान रखा है। अब ये दार्शनिक भी हठ करें कि व्यापी होने से आकाश ही गति और स्थिति का उपग्रह करने वाला है तो यहां भी यह ही कहा जा सकता कि सत्त्व गुण व्यापी है सो शोषण व ताप जो रजोगुण के धर्म हैं व विघात और आवरण जो तमोगुण के धर्म हैं वे सत्त्व के ही मान लिये जाना चाहिये और इसी प्रकार रजोगुण में इन दोनों को मान लेना चाहिये क्योंकि व्यापी होने से किसी को भी किसी का कारण मानने की अब स्वच्छंदता व्यक्त कर दी है। सो यदि इन दार्शनिकों को अपने सत्त्व रज और तम गुण ज्यों के त्यों व्यवस्थित रखना है तो उन्हें यह भी हट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

छोड़ देना चाहिये कि व्यापी होने से आकाश ही जीव और पुद्गल की गति और स्थिति का अनुग्राहक है।

आकाश का ही उपकार गति स्थिति मानने का हठ करने वाले क्षणिकवादियों के विभु विज्ञान में ही रूप वेदनादि आस्रव गर्भित हो जाने से रूप वेदनादि आस्रवों के अभाव का प्रसंग व रूपवेदनादि आस्रवों के अभाव में विज्ञान स्कन्ध के भी अभाव का प्रसंग—और भी देखिये क्षणिकवादी दार्शनिक ५ स्कन्ध मानते हैं–(१) रूप, (२) वेदना, (३) संज्ञा, (४) संस्कार और, (५) विज्ञान और लक्षण भी जुदे-जुदे माने है। देखने में रूप है, अनुभवने में वेदना आती है, निमित्त के ग्रहण में संज्ञा बनती है और बार बार भावना के संस्कृत होने से संस्कार होता है और जाननरूप आलम्बन से विज्ञान बनता है। तो अब यहाँ ऐसा कहा जा सकता है कि विज्ञान के न होने पर अनुभव आदिक सम्भव हो ही नहीं सकते, इस कारण ये सारे आश्रव विज्ञान के ही मान लेना चाहिये, और ऐसा अगर मान लिया तो फिर ५ स्कंध न रहे, एक विज्ञान रहा, सो जब चार न रहे तो विज्ञान न रहेगा, क्योंकि अब तो एक ही पदार्थ में सारे धर्म कल्पना करने की ठान ली है। आकाश को उदाहरण बनाकर कि आकाश ही जीव पुद्गल की गति और स्थिति का उपग्राहक है सो ऐसी हठ वाले के यहाँ ये ५ स्कंध नहीं बन सकते हैं। सो यदि भिन्न-भिन्न लक्षण वाले ५ स्कंधों को यथावत बनाये रखने की अभिलाषा है तो यहाँ भी धर्म अधर्म द्रव्य को गति और स्थिति का उपग्राहक मानो। आकाश तो सर्व पदार्थों के अवगाह का निमित्त है।

धर्म व अधर्मद्रव्य के व्यापी और गति स्थिति के उपग्राहक होने से परस्पर प्रतिबन्ध की शंकाकार द्वारा शंका—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जब समान रूप से समग्र लोकाकाश में फैले हैं और उनका काम परस्पर भिन्न है। धर्मद्रव्य का उपकार तो जीव पुद्गल की गति कराना है और अधर्मद्रव्य का उपकार जीव पुद्गल की स्थिति कराना है। तब तो इन दोनों में खींचातानी हो जायेगी, धर्मद्रव्य उन्हें गति कराने में कटिबद्ध रहेगा और अधर्मद्रव्य जीव पुद्गल को ठहराने में ही कटिबद्ध रहेगा, फिर तो इनका परस्पर प्रतिबन्ध हो जायेगा। जैसे कि समान बल वाले दो मल्ल लड़ते हों तो वहाँ प्रतिबन्ध है या दो पक्षी किसी मांसपिण्ड को खींच रहे हों तो एक ने जितने क्षेत्र में खींच लिया उतने क्षेत्र में वह दूसरा हार गया और जितने क्षेत्र में दूसरे पक्षी ने खींच लिया उतना यह पहला हार गया, तो ऐसे ही धर्म अधर्मद्रव्य तो लोकव्यापी हैं, सो जब धर्मद्रव्य के उपग्रह से जीव पुद्गल की गति हो रही है तो उस ही समय अधर्मद्रव्य के उपग्रह से स्थिति हो रही। ऐसी अगर स्थिति हो जाये तो गति रुक जायेगी और जब गति का जोर पड़ गया तो स्थिति रुक जायेगी। तो इस तरह जीव पुद्गल में न गति रह पायेगी और न स्थिति रह पायेगी। दोनों का अभाव हो जायेगा।

स्वयं गति स्थिति परिणाम सामर्थ्य से गति स्थिति रूप परिणमने वाले जीव पुद्गलों के गति स्थिति परिणमन में मात्र सन्निधान रूप साधारण कारणपना धर्म व अधर्मद्रव्य में होने से प्रतिबन्ध का अवसर न आने का दिग्दर्शन कराते हुये उक्त शंका का समाधान—अब उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि ऐसा प्रतिबन्ध का संदेह करना युक्त नहीं है, इसका कारण यह है कि जो स्वतः गति और स्थिति रूप परिणमन में सामर्थ्य रखते हैं और गति और स्थिति रूप परिणमते हैं उनके लिये धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है। सामर्थ्य सिर्फ उपग्रह का आकांक्षी होता है। जैसे कि कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वृद्ध पुरुष गमन करने का सामर्थ्य रख रहा है पर उसके लिये उपग्राहक लाठी होती है, पर लाठी उस वृद्ध पुरुष का गमन कराने वाली नहीं है उसमें यदि सामर्थ्य है गमन करने का तो लाठी सहायक हो गयी। यदि सामर्थ्य न होने पर भी किसी पुरुष की गति के करने वाली लाठी बन जाये तो जब कोई पुरुष मूर्छित है या सोया हुआ है तो उससे लाठी चिपका दी जाये, वह तो फिर एकदम भाग खड़े होना चाहिये, पर ऐसा होता कहां है ? दूसरा उदाहरण देखिये कि जिसके नेत्र में देखने का सामर्थ्य है उसके लिये दीपक या चश्मा ये उपग्राहक हैं, पर चश्मा या प्रदीप नेत्र की दर्शन शक्ति के करने वाले नहीं हैं। यदि चश्मा असमर्थ पुरुष के भी, अन्धे के भी या शक्तिहीन के भी दृष्टि का करने वाला बन जाय तो जो प्राणी मूर्छित हैं, सोये हुये हैं, जन्म के अन्धे हैं उनको भी यह दीपक या चश्मा दर्शन करा बैठे, मगर ऐसा कहां होता ? बात सही तो यह है कि स्वयं दिखने की सामर्थ्य रखने वाले पुरुष को ही दीपक उपग्राहक है, चश्मा भी उपग्राहक है. ऐसे ही स्वयं गति और स्थिति रूप परिणमने की सामर्थ्य रखने वाले और गति स्थिति, रूप परिणमने वाले जीव और पुद्गल को भी धर्म और अधर्म द्रव्य मात्र उपग्राहक है पर वे जीव और पुद्गल की गति और स्थिति के करने वाले नहीं हैं। यदि धर्म अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की स्थिति के कर्ता माने गये होते तो प्रसंग दोष दिया जा सकता था कि गति और स्थिति का विरोध हो जायेगा। सो धर्म अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के मात्र अनुग्राहक हैं इस कारण दोष नहीं लगता।

अन्य उपग्राहकों का अनियम होने से धर्म व अधर्मद्रव्य के ही गति स्थिति हेतुत्व का परिचयन—और भी देखिये—कहीं तो उपग्राहक न भी हो तो भी गति और स्थिति देखी जाती है जैसे पक्षी उड़ता है तो पक्षी के गमन करने के लिए मछली के गमन करने में जल की तरह कोई बाह्य उपग्राहक नहीं है फिर भी वह जहाँ चाहे उड़ गया, जहाँ चाहे बैठ गया। सो बात क्या है कि धर्म और अधर्म द्रव्य ये सर्वज्ञ हैं, वे निमित्त कारण हैं पक्षियों के गमन और स्थिति में। तो ऐसे ही सब द्रव्यों का समझ लेना चाहिये। जो द्रव्य गति स्थिति करते हैं उनका यह गमन और ठहरना धर्म और अधर्म द्रव्य के निमित्त अवलम्बन से होता है। शंकाकार कहता है कि पक्षी आदिक जो उड़ते हैं, गमन करते हैं, ठहरते हैं और जल आदिक की तरह कोई बाह्य कारण नहीं मिलाने पड़ते हैं तो वहां आकाश उपग्राहक है, तो आकाश से ही गति स्थिति बन रही है पक्षी की। तब धर्म अधर्म द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता ? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह बात तो भली भांति सिद्ध की जा चुकी है कि आकाश गति और स्थिति के उपग्रह में कारण नहीं है। आकाश का लक्षण तो अवगाहन है। सर्व पदार्थ समा जायें इसका निमित्तभूत है आकाश। अब देखिये कि यह कोई एकान्त भी नहीं है कि बाहरी उपग्राहक हो तब ही गति स्थिति हो या कार्य हो। किसी के बाहरी उपग्राहक मिलने पर भी कार्य होता है और किसी के बाह्य उपग्रह न मिलने पर भी कार्य होता है। जैसे—मनुष्य बाहरी प्रकाश आदिक के उपग्रह से रूपादिक को देखते हैं किन्तु सिंह, बिलाव आदिक किसी बाह्य दीपादिक के उपग्रह के बिना अपनी ही शक्ति बल से रूप को देख लेने में सामर्थ्य रखते हैं, और मनुष्यों के उस प्रकार देखने की शक्ति नहीं है सो वहाँ दीपक आदिक का निमित्त होना पड़ता है। तब यह एकान्त न रहा कि बाह्य स्थूल कारण मिलने पर ही सभी कार्य बनते हैं। हां अन्तरंग कारण का होना बहुत आवश्यक है, इसी तरह यहाँ भी देखिये कि यह कोई एकान्त न रहा कि सभी गमन करने वाले पुरुष लाठी आदिक के सहारे गमन करते हैं। देखने की जिसके शक्ति है, पञ्चेन्द्रिय का

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पूरा सामर्थ्य चल रहा है वह पुरुष बाहरी लाठी आदिक उपग्रह के बिना भी धर्मद्रव्य के निमित्त से गमन कर लेता है, पर जो अन्धा है सो गमन तो वह अपनी शक्ति से करता है लेकिन उसमें साधारण निमित्त कारण धर्मद्रव्य है, पर जब तक उसे यह न मालूम पड़े कि यह आगे की जमीन बराबर है या ऊँची नीची है ऐसे भूमि प्रदेश न दिखें तो चल ही न सकेगा सो उस भूमि प्रदेश का ज्ञान कराने के लिये वह लाठी सहायक है। वह अन्धा पुरुष लाठी से टटोलकर यह समझता है कि यह जमीन सही है, चलने लायक है तो उसको लाठी का सहारा लेना पड़ा, पर सभी मनुष्य लाठी का सहारा तो नहीं लेते, ऐसे ही यहाँ भी एकान्त नहीं है कि सभी जीव पुद्गलों का बाह्य उपग्रह कारण होना ही चाहिये। देख लीजिये—पशु आदिक के गमन के लिये धर्म और अधर्मद्रव्य ही निमित्त कारण हैं। उन्हें बाह्य उपग्रह न चाहिये और मछली आदिक के धर्म और अधर्म द्रव्य तो गति स्थिति में साधारण कारण हैं ही, पर जल आदिक भी बाह्य उपग्राहक चाहिये। इस प्रकार सबकी गति स्थिति में चाहे किसी को लाठी की जरूरत हो या न हो, पर धर्म और अधर्मद्रव्य में अनिवार्य सहायक कारण होते ही हैं।

धर्म व अधर्मद्रव्य की सत्ता सिद्ध करने का शंका समाधानपूर्वक विवरण शंकाकार कहता है कि धर्म और अधर्मद्रव्य हैं कहाँ ? जिनका नाम लेकर चर्चा बढ़ायी जा रही है। जो चीज दिखती नहीं, प्राप्त होती नहीं उसकी चर्चा करके समय क्यों खोया जाये ? धर्म और अधर्मद्रव्य तो गधे के सींग की तरह है ही नहीं। जो हों लाठी आदिक, उनकी उपलब्धि हो ही रही है और यह भी समझ में आ रहा कि लाठी का यह उपकार है कि नीचे ऊँचे भू भाग में भेद बता दिया कि यहाँ नीचा भू भाग है यहाँ ऊँचा भू भाग है, पर धर्म और अधर्मद्रव्य तो उपलब्धि में नहीं आ रहे और न उनका उपकार भी देखने में आ रहा इस कारण धर्म अधर्मद्रव्य का सत्त्व ही नहीं है। इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यदि लोग ऐसी प्रतिज्ञा करके बैठ जायें कि जो-जो हमको उपलब्धि में न आये, आँखों से न दिखे वे वे सब असत् हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करके कोई रह जाये तो वहाँ तीर्थ, गुरू, देव, स्वर्ग, नरक आदिक सबका अभाव बन बैठेगा। कहा जा सकता है कि जैसे गधे का सींग उपलब्ध नहीं है तो उसकी कोई सत्ता नहीं, ऐसे ही तीर्थंकर पुण्य, पाप, परलोक, स्वर्ग नरक आदिक भी उपलब्ध नहीं होते तो इनकी भी सत्ता नहीं है। मुख्य बात यह है कि धर्म और अधर्मद्रव्य की उपलब्धि नहीं है, यह हेतु ही असिद्ध है। भगवान अरहंत सर्वज्ञदेव के प्रत्यक्ष ज्ञान में यह आया है कि धर्म और अधर्मद्रव्य हैं और उन भगवान के द्वारा प्रणीत परम आगम में वर्णित है, सो आगम प्रमाण से भी गम्य है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य है और फिर उनके अनुसार कार्य देखा जा रहा है, सो उसके अनुमान के द्वारा भी वह सिद्ध है। जो धर्म और अधर्मद्रव्य अनुपलब्ध से हैं यह हेतु देना गलत है। जो हेतु स्वयं असिद्ध है, वह अपनी साध्य सिद्धि नहीं कर सकता और अनुपलब्धि हेतु तो निर्णायक नहीं होता किन्तु विवादकारक हो सकता है कि धर्म अधर्मद्रव्य चूँकि हम लोगों को अनुपलब्ध हैं तो क्या गधे के सींग की तरह तुच्छाभाव रूप हैं वह या परमाणु आकाश आदिक की तरह सूक्ष्म हैं वे इतने कि वे हम लोगों को उपलब्ध नहीं होते। तो अनुपलब्धि हेतु से विवाद तो हो सकता है, पर उससे निर्णय नहीं किया जा सकता कि वे हैं ही नहीं। उनका सद्भाव जो लोक में कार्य देखा जा रहा है उससे जान लिया जाता है क्योंकि कार्य अनेक उपकरणों द्वारा साध्य हुआ करते हैं। जैसे मृत् पिण्ड यह सामर्थ्य रखता है कि वह घटरूप परिणम जाये पर बाहरी कुम्हार, दण्ड, चक्र, सूत्र,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पानी आदिक अनेक उपकरणों की अपेक्षा रखता हुआ घट पर्याय रूप से प्रकट होता है। खाली एक मृत् पिण्ड ही कुम्हार आदिक बाह्य सन्निधानों के बिना घट रूप से प्रकट होने में समर्थ नहीं है, ऐसे ही पक्षी आदिक गति और स्थिति के परिणमन करने के अभिमुख हैं पर बाह्य अनेक कारणों के सन्निधान के बिना गति और स्थिति रूप परिणमने के लिये सामर्थ्य नहीं हैं, उनमें गति स्थिति के उपग्रह का का कारणभूत धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्य है, यह भली-भाँति सिद्ध होता है। इस प्रकार जीव पुद्गल की गति और स्थिति रूप कार्य देखा जाने से सिद्ध होता है कि उनके साधारण कारण भूत कोई द्रव्य होना ही चाहिये, अन्यथा ये चलकर लोकाकाश के बाहर भी पहुँच सकते हैं, तो वे कारण हैं धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य।

संसर्ग को कार्योत्पत्ति में हेतु मानने पर भी कार्य की अनेक कारण साध्यता की सिद्धि—यहाँ धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के अस्तित्व के बारे में शंका समाधान चल रहा था जिसमें एक यह भी बात आयी थी कि जब जीव और पुद्गल के गमन और स्थिति में भूमि, जल, आकाश आदिक कारण देखे जा रहे हैं तो धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है? दूसरी चर्चा यह भी चल रही थी कि धर्म और अधर्मद्रव्य की तो उपलब्धि हो ही नहीं रही, इस प्रकार शकाओं का समाधान किया था। अब धर्म अधर्मद्रव्य की सिद्धि के लिये प्रथम शंका से सम्बन्धित यह बात कही जा रही थी कि इस लोक में कार्य अनेक कारणों द्वारा साध्य होता हुआ देखा जाता है। जैसे घट कार्य बनने में कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिक अनेक कारण देखे गए हैं तो ऐसे ही भले ही गति और स्थिति में भूमि जल आदिक कारण पड़ते हैं वे भी रहे आयें लेकिन साधारण कारण धर्म अधर्मद्रव्य भी होते हैं, और इस प्रकार धर्म अधर्मद्रव्य की सिद्धि की गई थी। उसी विषय में यहाँ शकाकार यह कहता है कि अनेक कारणों से कार्य नहीं बनता किन्तु अनेक पदार्थों के संसर्ग से कार्य बनता है, अर्थात् कार्य उत्पन्न होने में संसर्ग ही कारण है। कारण अन्य कुछ नहीं है, जैसे कपड़ा बनता है तो अनेक डोरों का सम्बन्ध होना हो कपड़े के कार्य को पूरा करता है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि संसर्ग को ही कारण माना जाये तब तो कारण का नियम ही न बन सकेगा। जिस चाहे पदार्थ का संसर्ग होने से कपड़े की उत्पत्ति होने लगेगी। और संसर्ग मानने वाले भी यदि यह कहें कि खास पदार्थों के संसर्ग से कार्य होता है तो बस इसी से अनेक कारणपने की सिद्धि हो गई। जब संसर्ग अनेक पदार्थों का है तो संसर्ग भी अनेक हो गये। और जिनका संसर्ग है वे पदार्थ ही तो कारण रूप हैं, इस प्रकार कार्य के अनेक कारणों से सिद्धि होती है। और इस तरह गति और स्थिति के परिणमन में लाठी दीपक भूमि चश्मा जल आदिक भी कारण कहे जायें, पर धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये मूल साधारण कारण हैं। अन्य कारणों में तो कमीबेशी होती रहेगी, किसी में कुछ कारण हैं किसी में कुछ नहीं है, पर धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सभी के लिये साधारण कारण हैं।

सभी दार्शनिकों के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष अर्थ की मान्यता होने से अनुपलब्धि हेतु धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य के असत्त्व की असिद्धि—जो पुरुष यहाँ यह हठ करते हैं कि जो आँख आदिक प्रत्यक्ष से नहीं प्राप्त होता है वह है ही नहीं। तो जिनका ऐसा अभिप्राय है उनका तो अपने मत से ही विरोध आता है। जितने भी दार्शनिक हैं वे सब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ को बताने वाले हैं। जैसे क्षणिकवादी दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक रूप परमाणु अतीन्द्रिय है और अप्रत्यक्ष है किन्तु उन रूप परमाणुओं का समुदाय बने, अनेक परमाणुओं का संसर्ग बने तो वह ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है। सांख्य

http://www.jainkosh.org

लोग कहते हैं कि पृथ्वी आदिक जो दिख रहे हैं ये तो प्रकट प्रधान के परिणाम हैं, वे तो प्रत्यक्ष हो रहे हैं, पर उनमें जो सत्त्व आदिक गुण हैं वे गुण अप्रत्यक्ष हैं, तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के अर्थ सभी दार्शनिक मानते हैं। वैशेषिक लोग कहते हैं कि अनेक परमाणुओं के समुदायरूप से उत्पन्न हुए पृथ्वी आदिक प्रत्यक्ष हैं उनके विषय रूपादिक भी प्रत्यक्ष हैं, उनका समवायो संख्या प्रमाण, संयोग, विभाग आदि भी प्रत्यक्ष हैं। पर यहां अणु और आकाश आदिक अप्रत्यक्ष हैं। तो प्रत्येक दार्शनिकों के यहाँ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ माने गये हैं। यदि अनुपलब्धि होने से धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का अभाव माना जाय तो जो अप्रत्यक्ष अर्थ ऊपर कहे गये हैं विज्ञान सत्त्व परमाणु आदि उनका भी अभाव मान लेना चाहिए, क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं। उनके बारे में यदि यदि यह कहा जाये कि एक अप्रत्यक्ष पदार्थ का कार्य देखा जाता है, उस कार्य से उनका अस्तित्व जाना जाता है तो फिर धर्म और अधर्म द्रव्य के बारे में यही बात मानने में ईर्ष्या क्यों की जा रही है ? धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य गति और स्थिति भी तो देखा जा रहा है।

परस्पराश्रय से रचना मानने पर भी साधारण हेतु होने की अनिवार्यता की भांति गति स्थिति के साधारण हेतुभूत धर्म व अधर्म द्रव्य की अनिवार्यता—अब यहां शंकाकार कहता है कि जैसे ज्ञानादिक आत्मपरिणामों का और दही आदिक पुद्गल परिणामों का निर्माण एक दूसरे के आश्रय से हो रहा है, जैसे दूध में जामन पड़ने पर दही का निर्माण हो गया, उस ज्ञान के कारण आत्मा का अस्तित्व जाना गया। आत्मा का ज्ञान जाना गया तो ऐसे ही जीव और पुद्गल की जो गति और स्थिति बनती है वह भी परस्पर के आश्रय से बन जाती है। उसमें धर्म द्रव्य और अधर्म कैसे सिद्ध हो जाता ? इस शंका के उत्तर में कहना इतना ही है कि यह भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया कि पक्षी आदिक की जो गति स्थिति होती है उसमें कारण अनेक हैं। कुछ असाधारण कारण हैं कुछ साधारण कारण हैं। तो साधारण कारण धर्म अधर्म द्रव्य हैं। अन्य तो पक्षी आदिक की गमन स्थिति की योग्यता के प्रकट करने वाले आश्रयभूत हैं, और जैसे शंकाकार ने अभी अभी दृष्टांत दिया कि ज्ञानादिक या दधि आदिक विकार की रचना परस्पर के आश्रय से है। सो भले ही ये असाधारण कारण रहें, मगर उन सबकी रचना का बाह्य साधारण हेतु काल नामक द्रव्य मानना ही पड़ता है। इस प्रकार धर्म द्रव्य और अधर्म का अस्तित्त्व प्रमाण सिद्ध है।

गति स्थिति का हेतु अदृष्ट को मानने पर अनेक दोषापत्तियां होने से धर्म व अधर्म द्रव्य के ही गति स्थिति हेतुत्व की सिद्धि—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि आत्मा का एक अदृष्ट नाम का गुण है जिसके भाग्य, कर्म, आदिक पर्यायवाची शब्द हैं। उस अदृष्ट गुण के कारण सुख दुःख आदिक फल मिला करते हैं। और उसी अदृष्ट गुण के कारण सुख दुःख के साधनभूत—धन स्वर्णादिक साधन मिला करते हैं। वैशेषिक सूत्र में इस विषय को काफी विवरण से बताया गया है। अग्नि में ज्वाला ऊपर उठती है। हवा सीधी तिरछी चलती है ये सब अदृष्ट द्वारा ही कराये गए हैं, और भी जितने कार्य हैं जन्म मरण नये-नये शरीर का संयोग वह सब अदृष्ट द्वारा कराया है। तो इसी प्रकार आगम और स्थिति ये भी अदृष्ट के कारण ही माने जावें। धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य नामक पदार्थ की कल्पना क्यों की जाये। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जितनी गति और स्थिति में अदृष्ट को कारण माना जाता है, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य को नहीं तो पुद्गल की गति स्थिति कैसे बनेगी ? अदृष्ट तो आत्मा का गुण है सो आत्मा की गति स्थिति का हेतु बताया जा सकता,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर पुद्गल में गति और स्थिति का कारण अदृष्ट तो नहीं हो सकता क्योंकि ये अचेतन हैं, वे न पुण्य कर सकते न पाप कर सकते। तो जब उसके अदृष्ट नहीं बन सकता तो अदृष्टकृत गति स्थिति यहाँ कैसे हो सकती ? इस पर शंकाकार यदि यह कहे कि ये पुद्गल पदार्थ जिनके उपयोग में आये उन आत्माओं के अदृष्ट के कारण इन पुद्गलों की गति स्थिति मान ली जायेगी। तो यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा का गुण है अदृष्ट। उसके द्वारा पुद्गल में क्रिया का आरम्भ नहीं हो सकता। किसी गुण का सामर्थ्य अन्य में क्रिया करने का नहीं होता, और फिर देखिये—जब यह जीव कर्म से मुक्त होता है, सिद्ध भगवान बनता है तो उसके न तो पुण्य रहा न पाप रहा। कोई अदृष्ट ही न रहा फिर भी उनकी ऋजुगति होती है जिससे वे एक ही समय में लोक के अन्त में पहुँच जाते हैं और अधर्मद्रव्य के द्वारा वहाँ उनकी स्थिति बनी रहती है। तब गति स्थिति अदृष्ट के कारण होते हैं यह बात संगत नहीं रही।

अमूर्त होने पर भी धर्म व अधर्मद्रव्य के गति स्थिति हेतुत्व की सिद्धि—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तो मूर्त पदार्थ हैं, इसमें रूपादिक गुण नहीं हैं ऐसा जैनों ने माना है, तो अमूर्त जो होगा वह जीव, पुद्गल की गति और स्थिति का कारण नहीं बन सकता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि अमूर्त होने से गति और स्थिति की कारणता दूर होती है इसको सिद्ध करने में कोई दृष्टान्त शंकाकार नहीं दे सकता और अमूर्त होकर भी उनके कार्य देखे जाते हैं, इसके उदाहरण अनेक मिलते हैं। जैसे—आकाश अमूर्त है सो वह अमूर्त होकर भी समस्त पदार्थों की अवगाहन क्रिया को करता है, अथवा सांख्य सम्मत प्रधान अमूर्त है. वह अमूर्त होकर भी भी पुरुष प्रयोजन की प्रवृत्ति से महान् आदिक विकारों को उत्पन्न करके पुरुष का उपकार करता है, अथवा बौद्ध सम्मत विज्ञान अमूर्त होकर भी नाम रूपादिक की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं, अथवा मीमांसकों के द्वारा माने गये अपूर्व नाम का धर्म क्रिया से प्रकट होता हुआ अमूर्त होकर भी पुरुष का उपकारी होता है। तो ऐसे ही धर्म और अधर्मद्रव्य अमूर्त होकर भी गति और स्थिति में उपकारी होता है अब यहाँ अतीन्द्रिय धर्म अधर्मद्रव्य का उपकारमुखेन अस्तित्व जानने के बाद जिज्ञासा होती है कि धर्म अधर्मद्रव्य के बाद कहे गये आकाश का जो कि अतीन्द्रिय है उसके समझने के लिये हम क्या उपकार परिचय में लायें, इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये सूत्र कहा जा रहा है।

आकाशस्यावगाहः ॥५-१८॥

अवगाह्य अवगाही में अनादि सम्बन्ध न हो सकने की आरेका व समाधान—आकाश का अवगाह उपकार है यहां अवगाह शब्द भाव साधन में प्रयुक्त हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति है—अवगाहनं अवगाहः, अवगाह का अर्थ होता है अनुप्रवेश अर्थात प्रविष्ट हो जाना। इस सूत्र में उपकारः शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति ली है, जिससे कि पूर्ण अर्थ बना आकाशद्रव्य का उपकार है सब द्रव्यों का अवगाह होना। यहाँ शंकाकार कहता है कि आकाश धर्म अधर्म आदिक पदार्थों के अवगाह का कर्ता है, तब इसका अनादि काल से सम्बन्ध नहीं बन सकता। जैसे कहा जाता कि हंस जल में प्रविष्ट हुआ है तो हंस और जल का अनादि सम्बन्ध तो न रहा। वे जुदे जुदे थे या हंस कहीं से आया और जल में प्रवेश कर गया तो ऐसे ही जब यह कहा जाता कि आकाश धर्म और अधर्म आदिक द्रव्यों को अवगाहता है तो आकाश का और सब द्रव्यों का अनादि सम्बन्ध तो न रहा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहां शंका यों न करना चाहिए कि यह अवगाह औपचारिक है, क्योंकि यहाँ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुछ क्रिया नहीं हो रही, किन्तु इन सब पदार्थों की व्याप्ति है यहाँ आकाश में। जैसे आकाश गमन नहीं करता फिर भी आकाश को सर्वगत कहा जाता। सर्वगत का सीधा अर्थ है—जो सब जगह गया हो। तो आकाश में तो क्रिया ही नहीं है, वह तो कहीं जाता ही नहीं है, फिर भी जो सर्वगत कहा है वह व्याप्ति के कारण कहा है कि आकाश बहुत बड़ा व्यापक पदार्थ है, ऐसे ही मुख्य अवगाह क्रिया के न होने पर भी अर्थात् पदार्थ कहीं से आकर लोकाकाश में प्रवेश करते है, ऐसा न होने पर भी लोकाकाश में सब जगह व्याप्ति देखी जा रही है धर्म अधर्मद्रव्य की, इस कारण कहा जाता कि धर्म अधर्म द्रव्य का लोकाकाश में अवगाह है।

अयुत सिद्धों में भी आधाराधेयत्व की उपपत्ति की संभवता होने से लोकाकाश में धर्म व अधर्मद्रव्य के अवगाह की असिद्धि की असिद्धि—अब शंकाकार यह बात रख रहा कि जहाँ आकाश है वहाँ ही धर्म, अधर्मद्रव्य हैं, और अनादि से सम्बन्ध है, ये कभी अलग रहे नहीं लोकाकाश से, तो जब ये अयुत सिद्ध हैं तो इनमें आधार-आधेय भाव नहीं बन सकता। जो पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं उनमें ही आधार आधेय भाव देखा गया है। जैसे मटके में गेहूँ भरा तो गेहूँ पृथक् सिद्ध हैं, गेहूँ अलग पदार्थ हैं, मटका अलग वस्तु है, तो वहाँ आधार आधेय भाव बन गया, किन्तु आकाश धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य ये तो अयुत सिद्ध हैं, याने पहले ये एक जगह न थे बाद में ये एक जगह आये हैं, ऐसी बात तो है नहीं, इस कारण इनमें आधार आधेय भाव नहीं बन सकता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि युत सिद्ध पदार्थों में भी आधार आधेय भाव देखा जाता है और अयुतसिद्ध पदार्थों में भी आधार आधेय भाव देखा जाता है। जैसे हाथ और हाथ की रेखायें कहीं अलग तो नहीं है फिर भी कहा जाता है कि हाथ में रेखायें हैं तो अयुतसिद्ध में लो आधार आधेय भाव देखा गया ना। और भी देखिये—ईश्वर का जो ऐश्वर्य है वह अलग चीज तो है नहीं कि ईश्वर अलग पड़ा और ऐश्वर्य अलग बना है, अयुत सिद्ध हैं दोनों फिर भी आधार आधेय भाव बताया जाता है कि ईश्वर में ऐश्वर्य है। तो इसी तरह लोकाकाश में धर्मद्रव्य है यह आधार आधेय भाव सिद्ध हो जाता है।

धर्म अधर्म लोकाकाश आदि में कथंचित् युतसिद्धत्व अयुतसिद्धत्व अनादि सम्बन्धत्व आदि सम्बन्ध आदि की सिद्धि—यह भी बात एकान्त की नहीं है कि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य आकाश के साथ अनादि से सम्बन्ध किये हुये हैं। यहाँ भी अनेकान्त घटाया जायेगा, कथञ्चित् अनादि सम्बन्ध है, कथञ्चित् अनादि सम्बन्ध नहीं है इसी प्रकार ये दोनों द्रव्य कथञ्चित् अयुतसिद्ध हैं और कथञ्चित् अयुतसिद्ध नहीं हैं, वे इस प्रकार हैं कि जब पर्यायार्थिकनय को गौण करके द्रव्यार्थिक की प्रधानता से निरखते हैं तो उनमें उत्पत्ति व्यय नहीं विदित हुआ। उस समय यह अनादि सम्बन्ध है और अयुतसिद्ध है, किन्तु जब पर्यायार्थिकनय को गौण करके पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से निरखते हैं तो पर्यायों का उत्पाद व्यय देखा जा रहा है सो इस दृष्टि से न अनादि सम्बन्धी है और न अयुतसिद्ध है और इसी विधि से धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य का आकाश में कथञ्चित् अवगाह है और कथञ्चित् आधार आधेय भाव है, यह सिद्ध होता है। हाँ जीव और पुद्गल का मुख्य अवगाह एकदम प्रकट विदित होता है, क्योंकि इनमें क्रिया परिणमन है। जैसे हंस कहीं से उड़कर जल में आ गया तो जल में अवगाह किया यह स्पष्ट जाना जाता है। ऐसे ही जीव पुद्गल आकाश के किसी भाग से चलकर किसी भाग में आया तो क्रिया परिणमन होने से इनके अवगाह को प्रकट जान लिया जाता। इस प्रकार क्रिया परिणामी द्रव्य अथवा निष्क्रिय द्रव्य उनकी व्याप्ति आकाश में है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अतएव सबका अवगाह आकाश में हुआ है। इस तरह आकाश द्रव्य का उपकार सर्व पदार्थों को अवगाह देना है। ऐसा उपकार की दृष्टि से आकाश का लक्षण कहा गया है।

सर्वको अवगाह देने के सामर्थ्य वाले आकाश में एक पदार्थावरुद्ध क्षेत्र में अन्य पदार्थ का अवगाह न होने के कारण की मीमांसा—यहाँ शका होती है कि आकाश का सामर्थ्य बताया है कि वह सबको अवगाह दे दे तो जब यह सामर्थ्य आकाश में है तो वस्तुओं का परस्पर में प्रतिघात न होना चाहिये, जैसे कि एक बज्र में दूसरा पत्थर नहीं प्रवेश करता या गाय आदिक भीट से छिड़ जाते हैं तो यह प्रतिघात क्यों होता है ? जब आकाश सर्वत्र है तो सबको सब जगह समा जाना चाहिये और प्रतिघात देखा जा रहा है इससे सिद्ध होता कि आकाश में दूसरे को अवगाह देने का सामर्थ्य नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आकाश का सामर्थ्य तो बराबर है कि सभी पदार्थों को अवगाह दे दे और दे ही रहा है, मगर जो स्थूल पदार्थ हैं वे परस्पर प्रतिघात कर देते हैं। सूक्ष्म पदार्थ हों तो वे प्रतिघात नहीं करते। वहाँ तो एक दूसरे का प्रवेश होता है। तो जो यह स्थूल पदार्थों का प्रतिघात देखा जा रहा है सो आकाश के अवकाशदान के सामर्थ्य की कमी से नहीं किंतु उन स्थूल पदार्थों का ऐसा ही स्वभाव है कि उनमें परस्पर प्रतिघात होता रहता है। इससे आकाश सर्व पदार्थों को अवगाह देने में समर्थ है, इनमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है। तब ही तो आकाश के थोड़े से प्रदेशों में अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्ड समाये रहते हैं तो आकाश नहीं दूसरे को रोकता किन्तु जो पदार्थ स्थूल हैं वह दूसरे को रोक लेता है।

आकाश के सर्वसाधारणावगाहरूप असाधारण गुण का समर्थन—यहाँ शंका होती है कि यदि सूक्ष्म पदार्थ सूक्ष्मता के कारण अन्य पदार्थों को अवगाह दे देते हैं तब तो पदार्थों का अवगाह देना, यह आकाश का असाधारण लक्षण नहीं कहलाया। यदि आकाश ही अवगाह देता रहता, सूक्ष्म पदार्थ अन्य कोई भी अवगाह नहीं देते तब तो अवगाह आकाश का असाधारण गुण कहलाता, पर आकाश में ही तो ये गुण नहीं हैं। सूक्ष्म पदार्थों में भी गुण हैं, इस कारण से अवगाह आकाश का गुण नहीं और जब अवगाह आकाश का असाधारण लक्षण नहीं तो आकाश की भी कोई सत्ता न रही। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि अवकाश देना तो आकाश का ही काम है, और सूक्ष्म पदार्थ का यह काम है कि वह दूसरे पदार्थों का प्रतिघात नहीं कर सकता पर सूक्ष्म पदार्थ दूसरो का प्रतिघात न करे तिस पर भी जो पदार्थ का अवगाह हुआ है वह आकाश द्रव्य के नाम से हुआ है। तो आकाश का सभी को अवगाह देना यह विशेष लक्षण पाया जाता है। जैसे कि जल में ठहरने में भूमि आदिक भी कारण देखे जाते हैं। गाड़ी चलती है भूमि पर ठहरती है भूमि पर। तो भूमि आदिक में यद्यपि गति और स्थिति का उपग्रह देखा जा रहा है तो भी समस्त द्रव्यों को गति और स्थिति का उपग्रह कर सके, यह लक्षण भूमि में नहीं है। किंतु धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य में यह असाधारण लक्षण है कि जो चल सकें उन सभी द्रव्यों को चलने और ठहरने में असाधारण कारण पड़ता है। तो इस प्रकार सर्व द्रव्यों का अवगाहन करना यह विशेष लक्षण आकाश में पाया जाता। इससे आकाश का अस्तित्व युक्तिसंगत है।

अलोकाकाश में आकाशातिरिक्त अन्य द्रव्य न होने पर भी अवगाहरूप असाधारण गुण का सद्भाव—यहाँ शंका होती है कि यदि अवकाश दान देना आकाश का असाधारण लक्षण है तो अलोकाकाश में चूंकि अवकाश दान नहीं हो रहा। कोई अवगाही पदार्थ भी नहीं है तो वहाँ यह लक्षण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो नहीं पाया गया फिर अलोकाकाश का अभाव ही मानना चाहिए । जिसमें असाधारण लक्षण न पाया जाय वह लक्षण फिर नहीं ठहरता। इस शंका का उत्तर देते हैं कि अलोकाकाश में भी अवकाश देने का सामर्थ्य है। भले ही वहाँ अवगाह लेने वाले पदार्थ नहीं हैं मगर आकाश द्रव्य का जो स्वभाव है वह कभी नहीं छूट सकता। जैसे कि नदी या समुद्र का स्वभाव है कि हंस आदि को अवगाह देना, मायने वहाँ हंस आये और उस जल में केलि करता रहे, पर जब समुद्र या नदी में कोई हंस नहीं आ रहा तो अवगाही हंस का अभाव होने से जल का अवगाह्यपना खतम हो जाता। मायने जल में जो यह सामर्थ्य है कि कोई पक्षी आदिक आये तो उसमें बसा करे तो ऐसे ही अलोकाकाश में अवगाह लेने वाले पदार्थ मौजूद नहीं हैं तिस पर भी अलोकाकाश भी आकाश ही तो है। उसमें यह सामर्थ्य तो बराबर है कि वह अन्य पदार्थ को अवकाश दे सके और आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। लोकाकाश दूसरा आकाश है और अलोकाकाश दूसरा आकाश है ऐसा भेद नहीं है किन्तु उस ही एक अखण्ड आकाश में यह भेद बनाया गया है कि जहाँ ६ द्रव्य पाये जायें वह लोकाकाश है और जहाँ केवल आकाश पाया जाये वह अलोक काश है। तो आकाश का जो सामर्थ्य है वह तो आकाश में है ही।

आकाश की भी उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकता होने से सत्ता की प्रसिद्धि—यहाँ शंकाकार कहता है कि आकाश उत्पन्न नहीं हुआ, सो उत्पन्न न होने से आकाश का अभाव ही है। जैसे गधे के सींग भी उत्पन्न नहीं होते तो उनका अभाव ही है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि शंकाकार का हेतु असिद्ध है। शंकाकार का कहना था कि आकाश उत्पन्न नहीं होता ? सो किसी दृष्टि से देखें तो आकाश की उत्पत्ति विदित होती है। प्रथम तो आकाश का जातपना सीधे ही सिद्ध है कि जब द्रव्यार्थिकनय को गौण करके पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से देखा जाये तो अपने ही कारण से अगुरुलघुत्व गुण की वृद्धि हानि के भेदों की अपेक्षा से आकाश में उत्पाद होता रहता है और दूसरे ढंग से यों देखिये कि अवकाश करने वाले जीव पुद्गल जो पर पदार्थ हैं उनके कारण से जो अवगाह के भेद होते रहते हैं, अभी इस भाग में अवगाह है, अब यहाँ न रहा वह पदार्थ अन्यत्र पहुँच गया। कभी अधिक क्षेत्र में अवगाह है किसी पदार्थ का तो कुछ कम क्षेत्र में रह गया या अधिक में हो गया। इन भेदों की अपेक्षा से अवगाह भेद से आकाश का उत्पाद सिद्ध होता है। तीसरे इस ढंग को देखिये कि जैसे क्षीण मोह गुणस्थानवर्ती जीव का जो अन्तिम समय है वह सर्वज्ञपने से ही है याने वहाँ भी यह आत्मा सर्वज्ञ नहीं है और उसके बाद सर्वज्ञपना आयेगा। १३वें गुणस्थान में सर्वज्ञ होता ही है। तो जैसे यहाँ निरखा जाता है कि असर्वज्ञ रूप से तो व्यय हो गया और सर्वज्ञरूप से उत्पाद हो गया तो ऐसे ही आकाश के बारे में देखिये कि वह चरम समयवर्ती असर्वज्ञ १३वें गुणस्थान के अन्तिम समय वाला मुनि आकाश को साक्षात नहीं जान पा रहा था, उसके लिये आकाश साक्षात अनुपलम्भ था। अब एक समय बाद जैसे कि वह सर्वज्ञ हुआ तो यह अनुपलम्भ आकाश अब साक्षात प्रत्यक्ष हो गया। तो वहां यह आकाश उपलम्भ रूप से उत्पन्न हो गया, अनुपलम्भ रूप से नष्ट हो गया। यदि इस प्रकार उपलम्भ रूप से आकाश को उत्पन्न न कहा जाय और अनुपलम्भ रूप से नष्ट न कहा जाय तो आत्मा की सर्वज्ञता ही नहीं ठहर सकती। फिर कोई सर्वज्ञ ही न रहेगा। तो इस प्रकार आकाश में भी व्यय उत्पाद देखा जाता है तो शंकाकार का हेतु असिद्ध हो गया। चौथी बात यहाँ यह देखो कि शंकाकार ने जो दृष्टांत दिया कि खरविषाण उत्पन्न नहीं होता इस कारण उसका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अभाव है तो यह बात भी एकान्त से नहीं कही जा सकती। खरविषाण इस समय अर्थरूप से तो है पर बुद्धि और शब्द रूप से तो है ही। खरविषाण में तो शब्द हुए और इन शब्दों को सुनकर कल्पना में आया कि यह कहा जा रहा तो वह बुद्धि में आ गया तो इस समय अर्थरूप से तो नहीं है फिर भी तो इस दृष्टांत में किसी दृष्टि से साध्य भी नहीं है और साधन भी नहीं है। जैसे कि कोई गधा मरा और गाय बन गया तो जीव तो वही है और वही जीव होने से गाय के भव में भी उसे गधे का जीव कहा जा सकता है और वहाँ सींग पाये गये तो कह सकते कि गधे के सींग हो गये। तो जैसे गधे का सींग यद्यपि उस भव में अर्थरूप से नहीं है तो भी ऐसी दृष्टि से उसको भी उत्पन्न कहा जा सकता है। फिर आकाश में तो कोई ऐसी कल्पना भी नहीं बनाई जा रही। आकाश चूंकि द्रव्य है इस कारण प्रति समय उसमें उत्पाद होता रहता है।

आकाश की सत्तात्मक पदार्थ लो—अब एक शंकाकार कहता है कि आकाश कोई पदार्थ नहीं है किंतु कोई आवरण नहीं रहता। रुकावट की चीज न होना, ऐसी पोल पोल का ही नाम आकाश कह दिया जाता है। तो आवरण के अभावमात्र का नाम आकाश है। आकाश कोई सद्भूत द्रव्य नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि आकाश प्रत्यक्ष नहीं हो रहा फिर भी वास्तविक सत् है। आवरण के अभाव मात्र नहीं है जैसे कि नाम वेदना आदिक जो बौद्ध सिद्धांत में स्कंध माने गए हैं वे अमूर्त हैं और आवरण रहित हैं तो भी उनकी सत्ता मानी गई है ऐसे ही आकाश भी यद्यपि अमूर्त हैं तो भी वह वास्तविक है।

आकाश का अवगाह लक्षण से ही परिचय—अब पुनः एक शंकाकार कह रहा कि आकाश का लक्षण अवगाह बताया है। पर अवगाह में आकाश का ज्ञान नहीं होता। आकाश का अनुमान नहीं बनता फिर किससे बनता है सो सुनो—शब्द नाम हेतु से बनता है, याने आकाश है क्योंकि शब्द गुण प्रकट हो रहा है। शब्द आकाश का गुण है और वह वायु के अवघातरूप बाह्य निमित्त के वश से सब जगह उत्पन्न होता हुआ विदित होता है। इन्द्रिय से प्रत्यक्ष भी होता है और ऐसा यह शब्द गुण अन्य द्रव्य में पाया नहीं जाता। तो यही शब्द गुण गुणी आकाश को सिद्ध करता है, क्योंकि शब्द यह गुण है और जो गुण होता है वह द्रव्य के ही आधीन होता है। सो जिसके आधीन यह शब्द गुण है वह है आकाश। तो आकाश का परिचय शब्द गुण से होता है अवगाह से नहीं। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि शब्द को आकाश का गुण कहना अयुक्त है। शब्द आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि वह पौद्गलिक है। शब्द पुद्गल द्रव्य का विकार है। आकाश का गुण नहीं है और ये शब्द पौद्गलिक हैं। इसकी पहिचान यों जानी जाती कि इनका पुद्गल से अभिघात होता है। शब्द छिड़ जायें। शब्द किसी चीज में रोक दिये जायें तो ये मूर्तिमान पुद्गल से छिड़ते हैं। इससे मालूम होता है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्य का विकार है।

आकाश प्रधान विकाररूप न होकर स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ—अब यहाँ सांख्य सिद्धातानुयायी शंका करते हैं कि आकाश कोई अलग चीज नहीं, किंतु वह प्रधान का विकार है। तत्त्व दो है— (१) पुरुष और (२) प्रधान। प्रधान सत्त्व रज, तम गुण का एक पिण्ड है और उत्पन्न होने के स्वभाव वाला है और मोह महत आदिक में प्रधान के विकार हैं सो उन्हीं विकारों का विशेष कोई कोई आकार है। कोई अलग पदार्थ नहीं है। इस शंका के समाधान में कहते हैं कि प्रथम तो प्रधान में परिणाम ही नहीं माना गया है, जैसे कि परमात्मा में कोई परिणाम नहीं माना क्योंकि वह नित्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, निष्क्रिय है। आविर्भाव तिरोभाव यहाँ होता नहीं है। तो जैसे परमात्मा के परिणमन नहीं माने ऐसे ही प्रधान के भी परिणाम नहीं हो सकते। क्योंकि प्रधान को भी नित्य माना है, निष्क्रिय माना है। अतएव परिणाम नहीं हो सकते, और जब प्रधान में परिणाम नहीं है तो प्रधान के विकार को आकाश कहना यह कल्पना भी नहीं ठहरती, और यदि आकाश को प्रधान का विकार मान लिया जाय तो ऐसे घट पट आदि जो कि प्रधान के विकार माने गए हैं उनमें जैसे अनित्यता है। ये नष्ट हो जाते हैं और मूर्त हैं व एक देश में रहते हैं, तो ऐसे ही आकाश भी अनित्य हो जायेगा। मूर्तमान और एकदेश व्यापी हो जायेगा अथवा जैसे आकाश नित्य अमूर्त सर्वगत है ऐसे ही प्रधान के विकार घट पट आदिक भी नित्य अमूर्त सर्वगत हो जायेंगे। इस कारण आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह किसी अन्य द्रव्य का विकार नहीं है। अब पुद्गल द्रव्य का उपकार कहने के लिए सूत्र कहते हैं।

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥५-१९॥

शरीर और वचन पुद्गलों का उपकार तथा उनको पूर्वापर नाम रखने का कारण— पुद्गल द्रव्य का उपकार शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास है। विकार के मायने यहाँ कार्य है और वह किसके प्रयोजन के लिए है यह प्रश्न होने पर उत्तर आता है कि जीव के लिए है, क्योंकि इन सबका उपभोग जीव करता है। सामान्यतया अर्थ है कि शरीर तो जीवों के जैसे शरीर पाये जाते वे शरीर हैं। वचन जो शब्दवर्गणा के विकार हैं वे वचन हैं। मन—जिससे हितोपदेश ग्रहण करने की शिक्षा मिल पाती है वह मन है। और श्वासोच्छ्वास तो प्रकट है कि जीवों को श्वास होती है और उच्छ्वास होती है याने श्वांस निकलती है और ग्रहण की जाती है। इसका विशेष अर्थ आगे कहेंगे पर इस समय यह जानना युक्त है कि सूत्र में शरीरादिक का यह क्रम क्यों रखा गया है? सबसे पहले शरीर शब्द इस कारण रखा है कि शरीर के होने पर ही वचन, मन और श्वासोच्छ्वास हुआ करता है। तो उन आधेयों की प्रवृत्ति इस शरीर के आधार से है तब शरीर प्रधान हुआ और इसी कारण उसका सर्वप्रथम ग्रहण किया गया। शरीर बाद वचन कहा है। उसका कारण यह है कि वचन पुरुष हित की प्राप्ति का मूल कारण है। पुरुष के वचन हित में लगाने वाले हैं याने ये वचन पुरुष को हित प्रवर्ताते हैं।

वचन के निर्देश से तथा अग्रिम सूत्र में च शब्द के ग्रहण से अन्य इन्द्रियों की भी पुद्गल के उपकार में अन्तर्निहितता—यहाँ वचन चूंकि मुख से ही बोला गया, जिह्वा से ही बोला गया, जिसके जिह्वा नहीं, वह वचन नहीं बोलता तो यह रसना इन्द्रिय का प्रतीक जैसा है। ऐसा समझकर एक शंकाकार कहता है कि जैसे वचन पुरुष के उपकारक हैं ऐसे ही चक्षु आदिक इंद्रियाँ भी तो पुरुष के उपकारक हैं। फिर उनका भी ग्रहण करना चाहिये। तो उसका उत्तर यह है कि यह तो हमें इष्ट ही है, पर इसका ग्रहण जो इससे अगला सूत्र आयगा उसमें च शब्द पड़ा है उससे ग्रहण हो जाया करता है। यहाँ यह शंका होती है कि चक्षु आदिक इन्द्रियां तो आत्मा के प्रदेश रूप हैं। उन्हें पौद्गलिक कैसे कह दिया ? और पुद्गल का विकार कैसे बता दिया ? उसका उत्तर है कि यद्यपि वह आत्म प्रदेश रूप है। चक्षु, कर्ण आदिक, पर इन इन्द्रियों की रचना दो प्रकार की है-(१)बाह्य और (२) आभ्यांतर तो आभ्यंतर रचना में आत्मप्रदेश का योग माना है। तथापि जितनी बाह्य रचना है, द्रव्येन्द्रिय है, वह तो एकदम पौद्गलिक ही है, क्योंकि अंगोपांग नामकर्म केउदय से ये द्रव्येन्द्रिय रूप परिणमन होते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं सो इसका कारण भी पुद्गल है और ये स्वयं आहार वर्गणा के परिणमन हैं। औ ये जीव के सांसारिक उपग्रह में रहते हैं।

मन उपग्रह भी पुद्गलों का उपकार—मन भी पुद्गलों का उपकार है यद्यपि मन आत्मप्रदेशों में है और नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। पर द्रव्य मन की रचना तो मनोवर्गणा का ही परिणमन है। वह भी पौद्गलिक है। यहाँ यह सन्देह न करना कि चक्षु आदिक जो आत्मप्रदेश हैं या इन्द्रियाँ हैं वे तो अवस्थित हैं। जिस जगह हैं वहीं हैं पर मन तो अवस्थित नहीं है तो उसका यहाँ ग्रहण क्यों किया है ? या वह भी गौण होने से अन्तर्भूत हो जाता। उत्तर देते हैं कि यद्यपि मन अनवस्थित है, क्योंकि जहाँ-जहाँ प्रदेशों में उपयोग जाता है वे ही प्रदेश अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण मन नामक हो जाते हैं, किंतु वह मन भी नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम के निमित्त से होता है सो वह भी पुद्गल का उपकार है यहाँ यह कहा जा रहा था कि यदि आत्मा का परिणाम होने से चक्षु आदिक का ग्रहण न किया जाय तो वचन का भी ग्रहण न किया जाना चाहिये। क्योंकि वचन भी ज्ञानावरण के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ है इस कारण वह भी आत्मपरिणाम कहलायगा। इस प्रकार शंकाकार समाधान देता है कि जो बाहर निकल गये वचन हैं वे पुद्गल हैं, वे आत्मा के परिणाम नहीं होते इसलिए वचनों का पृथक ग्रहण करना तो उचित है और वचन ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसा प्रसंग देकर चक्षु आदिक इन्द्रिय का अग्रहण में आपत्ति देना युक्त नहीं है, और यह बात सर्वत्र है कि शरीरमें रहने वाले चक्षु आदिक इन्द्रियां तो पौद्गलिक ही हैं। वे द्रव्येन्द्रियाँ कहलातीं। तो इस प्रकार यह बात बिल्कुल युक्त है कि अन्य इन्द्रिय का की ग्रहण यहाँ होता है और वह अगले कहे जाने वाले सूत्र में च शब्द से विदित होता है।

शरीर आदि शब्दों को इस क्रम से रखे जाने का कारण और सूत्र में उपकारज्ञापन—सूत्र में सबसे प्रथम शरीर कहा क्योंकि वह सबका आधार है। उसके बाद वचन कहा क्योंकि हित अहित का साधन है और उसके बाद यहाँ मन का ग्रहण किया क्योंकि जिसके शरीर है और जिसके वचन हैं उसी के ही मन हो सकता है इसलिये तीसरे नम्बर पर मन कहा। अन्त में प्राणापान शब्द कहा है। वह सर्व संसारी जीवों का कार्य है इसलिए इसको अन्त में कहा है। यहाँ शंकाकार कहता है कि यह जो सूत्र बनाया है, शरीर, वचन, मन ,श्वासोच्छ्वास ये पुद्गल के उपकार हैं। सो वास्तव में उपकार बताने के लिये यह सूत्र नहीं हो सकता, किंतु पुदगल द्रव्य का लक्षण बताने के लिये है। और बहुत पहले सूत्रों की उत्थानिका में भी कहा कि उपकार के कथन से द्रव्य का लक्षण कहा जा रहा है। सो मुख्यतया तो यह लक्षण यहाँ ही बता रहे हैं। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि पुद्गल द्रव्य का लक्षण तो आगे स्वयं बताया जायगा। सूत्र आवेगा पुद्गल के लक्षण वाला। उसमें स्पष्ट बताया जायगा कि जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले पदार्थ हैं वे पुद्गल कहलाते हैं। इस सूत्र में तो आत्मा के उपकारक होने से उपग्रह के प्रकरण में पुद्गल का कार्य अथवा उपयोग कहा जा रहा है।

शरीर वचन आदि की प्रत्यक्षता व अप्रत्यक्षता दोनों हो सकने से इनके उपदेश की संगतता—यहाँ शकाकर कहता है कि ये शरीर वचन आदिक तो एकदम प्रत्यक्ष हैं। सबको स्पष्ट विदित हो रहा है, दिख रहा है। इस कारण से उपदेश न करना चाहिये। बात वह बताई जाती है जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लोगों को प्रत्यक्ष न हो और उसका ज्ञान आवश्यक हो। जैसे कि धर्म अधर्म द्रव्य का उपकार बताया था कि गति और स्थिति का उपग्रह करते हैं तो वह बात तो सही जची, क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं है तो उसका ज्ञान इस उपयोग से, कर्मों से किया गया है। किंतु शरीरादिक जो उपग्रह बताये हैं पुद्गल के उनके उपदेश निरर्थक हैं। क्योंकि वे तो प्रत्यक्षभूत हैं। जैसे कोई बहुत बोलने लगे कि पहले सूर्य उदित होता है पीछे अस्त होता है, गुड़ मीठा होता है ·· तो ऐसा बोलने से क्या फ़ायदा है ? वह तो लोगों को प्रत्यक्ष है ही। इनका उपदेश थोड़े ही किया जाता है। तो ऐसे ही शरीरादिक प्रत्यक्ष हैं तो इनका उपदेश न किया जाना चाहिये। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि शरीरादिक जो बताये गए हैं ये भी कोई कोई प्रत्यक्ष हैं, कोई कोई प्रत्यक्ष नहीं हैं। कोई शरीर प्रत्यक्ष होता है कोई शरीर प्रत्यक्ष नहीं होते। शरीर ५ बताए गए—(१) औदारिक (२) वैक्रियक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्माण। सो ये शरीर जब सूक्ष्म हों तो प्रत्यक्ष नहीं होते। जैसे सूक्ष्म जीवों का शरीर है वह हमको कैसे प्रत्यक्ष हो और यहाँ पशु पक्षी आदिक स्थूल शरीर ये प्रत्यक्ष हो रहे हैं। वचन भी है। जो अन्तर्जल्प हैं या मन्द आवाज में हैं और दूसरे को विदित नहीं होता। मोटे वचन प्रत्यक्ष हैं। मन तो प्रत्यक्ष है ही नहीं। श्वासोच्छ्वास भी कोई प्रत्यक्ष होता है. कोई अप्रत्यक्ष भी होता है। किसी का श्वास विदित हो जाता है, किसी का श्वास इतना हल्का है कि वह विदित नहीं हो पाता तो ये सब कोई प्रत्यक्ष हैं और कोई प्रत्यक्ष नहीं हैं। इस कारण इनका भी ग्रहण करना युक्ति संगत है और इसीलिए पुद्गल का उपकार स्पष्ट बताने के लिए शरीरादिक का उपदेश किया गया। इस प्रकार औदारिक आदिक शरीर का व्याख्यान पूर्ण होता है।

कामर्ण शरीर की पौद्गलिकता—यहाँ शंकाकार कहता है कि शरीरों में एक कार्माण शरीर का भी नाम लिया है सो वह तो पौद्गलिक नहीं है, क्योंकि वह अनाकार है, उसके अंगोपांग हाथ-पैर नहीं हैं, जो आकार वाले हों औदारिक आदिक शरीर उनकी पौद्गलिक कहना तो युक्त है पर कार्माण शरीर तो अंगोपांग से रहित है, अनाकार हैं, उसे पौद्गलिक कैसे कहा जा सकता ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि कार्माण शरीर का जो विपाक है, फल है वह पौद्गलिक पदार्थ के सम्बन्ध के निमित्त से होता है इसीलिये कार्माण शरीर पौद्गलिक है, यह निश्चय होता है। देखिये—जैसे चावल आदिक हैं तो जल आदिक के सम्बन्ध से उनका पाक होता है, पचते हैं, फल देखा जाता है तो वे पौद्गलिक कहलाये। जिसका फल पुद्गल के सम्बन्ध से हो, वह पौद्गलिक होता है, तो कार्माण शरीर का भी फल जो सुख-दु:ख आदिक है सो वह सुख-दु:ख के साधनभूत गुड़, भोजन, काँटा आदिक पौद्गलिक द्रव्यों का समागम होने पर ही मिलता है। याने कार्माण शरीर का विपाक पौद्गलिक पदार्थ के समागम से होता है, इस कारण ये शरीर भी पौद्गलिक हैं। ऐसा कोई अमूर्तद्रव्य नहीं है, जो मूर्तिमान के सम्बन्ध होने पर पकता हुआ देखा जाये, और कार्माण शरीर का विपाक मूर्तिमान पदार्थ के सम्बन्ध से होता है, काँटा लग गया दु:खी हुये, मिठाई खाया सुखी हुये तो यों पुद्गल के सम्बन्ध से कर्म का फल प्राप्त होता इस कारण कर्म पौद्गलिक हैं।

वचन की पौद्गलिकता—वचन भी दोनों प्रकार के वचन पौद्गलिक हैं। वचन के दो प्रकार ये हैं—(१) भाव वचन और, (२) द्रव्य वचन। सो भाववचन तो वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से, मति श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म की प्रकृति के उदय से प्राप्त हुये अंगों के संयोग वियोग से अन्तर में हुआ सो वह पौद्गलिक है। पुद्गल सम्बन्ध हुये बिना भाव वचन भी नहीं बनते इस कारण वह पौद्गलिक है। मति श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से वीर्यान्तराय के क्षयो-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पशम से सामर्थ्य पैदा हो तो क्रियावान आत्मा के द्वारा प्रेरे गए पुद्गल ही वचन रूप से परिणमते हैं। सो द्रव्य वचन पौद्गलिक हैं यह बात अत्यन्त स्पष्ट है और ये वचन श्रोत्रइन्द्रिय के विषयभूत हैं, इससे भी जाना जाता है कि ये पौद्गलिक हैं। यह शंका होती कि कोई सा भी वचन श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में आये फिर भी मिट क्यों जाता है ? और तुरन्त ही मिट जाता है। वह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण में आते ही रहना चाहिये। इस शंका का उत्तर कहते हैं कि वचन अपने क्षण प्रकट हुआ उसके पश्चात् वचन की वर्गणायें विशीर्यमाण हो जाती हैं, अलग-अलग हट जाती हैं इस कारण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा पुनः शब्द ग्रहण में नहीं आता। जैसे कि बिजली चमकी, चक्षुइन्द्रिय के द्वारा जान लिया गया, बाद में वह चक्षु इन्द्रिय के द्वारा हमेशा जाना ही क्यों नहीं जा रहा ? उसका कारण यह है कि बिजली प्रकाशरूप हुई और अनन्तर ही वह बिखर जाती है, तो आँख से भी बिजली नहीं दिख रही अब, ऐसे ही शब्द आया श्रोत्र इन्द्रिय से जाना गया फिर बिखर गया तो शब्द भी श्रोत्र इन्द्रिय से सदैव नहीं जाना जा रहा। यहाँ यह भी जानना कि शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है मगर शेष इन्द्रिय का नहीं है सूक्ष्म होने से जैसे कि गन्ध द्रव्य घ्राणेन्द्रिय से जाना जाता है और जैसे द्रव्य में गन्ध है उसमें उसका अविनाभावी रस आदिक भी है मगर घ्राण इन्द्रिय से रस आदिक का ग्रहण नहीं हो रहा, तो ऐसे ही शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्रहण होता अन्य इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता।

शब्द की मूर्तिमत्ता के विषय में शंका व समाधान—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि शब्द तो अमूर्त हैं, पुद्गल की चर्चा तो दूर रही, पर वह मूर्त ही नहीं है, क्योंकि शब्द अमूर्त का गुण है। आकाश अमूर्त है और उसका गुण शब्द है और इस कारण से वचन पुद्गल का उपकार नहीं कहा जा सकता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि शब्द आकाश का गुण नहीं है क्योंकि मूर्तिमान पदार्थ से यह ग्रहण में आता, मूर्तिमान पदार्थ से शब्दोत्पत्ति की प्रेरणा होती, मूर्तिमान पदार्थ से शब्द का रुकाव देखा जाता। तो चूँकि शब्द मूर्तिमान इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में आते हैं इसलिये अमूर्तिक नहीं, मूर्तिक ही है, गुण भी अमूर्त पदार्थ इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकते। अच्छा दूसरी बात यह है कि मूर्तिमान जो हवा है उसके द्वारा शब्द से प्रेरणा होती है और इस ही वजह से ये अन्य देश में स्थित हुये जीवों के द्वारा ग्राह्य होते हैं। जो-जो अमूर्त होगा उसको मूर्तिमान प्रेरित नहीं कर सकता। तो शब्द मूर्तिमान के द्वारा प्रेरित होता है इस कारण पौद्गलिक ही है, अमूर्त नहीं है शब्द का अवरोध भी देखा जाता। जैसे कोई कमरे के अन्द बोल रहा और भींट किवाड़ खिड़की आदि बंद कर दिया तो उसके शब्द का अवरोध हो गया, याने शब्द बाहर नहीं पहुँच रहा। कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थ के द्वारा अवरुद्ध नहीं हो सकता।

शंकाकार द्वारा शब्द की मूर्तिकता के साधक हेतुओं में दोष का प्रख्यापन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि शब्द को मूर्तिमान सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिये गये हैं वे सब सही नही हैं। एक हेतु यह दिया कि चूंकि शब्द इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं इस कारण से मूर्तिक हैं, सो बात यह है कि शब्द श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य तो है पर श्रोत्र मूर्ति या पौद्गलिकता नहीं है। श्रोत्रइन्द्रिय तो आकाशमय है और अमूर्तिक है, सो अमूर्त आकाश के द्वारा याने श्रोत इन्द्रिय के द्वारा अमूर्त शब्द का ग्रहण हो जाना युक्त ही है। इसमें क्या विरोध आता है। और भी देखिये—दूसरा हेतु दिया गया है प्रेरणा का याने शब्द की प्रेरणा होती है। हवा चली तो शब्द बढ़ गया सो यह हेतु भी ठीक नहीं है क्योंकि गुण का गमन ही नहीं होता, प्रेरणा क्या होगी ? कोई पूछे कि फिर अन्य देश में स्थित पुरुषों के

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

द्वारा शब्द ग्रहण में कैसे आयेंगे यदि गमन नहीं होता तो ? तो उसका उत्तर यह है कि संयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की निष्पत्ति होती है, तो शब्द से शब्द बनता गया और वह दूर देश में रहने वाले पुरुषों के द्वारा जाना गया। तीसरा हेतु जो दिया है कि शब्द का अवरोध होता है सो कोई भी अमूर्त पदार्थ किसी मूर्तिमान के द्वारा रोका हुआ नहीं देखा गया तो शब्द भी कैसे रुकेगा ? इस कारण यह समझना कि शब्द आकाश का गुण है अतएव शब्द अमूर्तिक हैं, उसे पुद्गल न कहा जाना चाहिये।

शब्दों की मूर्तिकता के साधक हेतुओं में शंकाकार द्वारा दिये गये दोषों का निवारण करते हुये शब्दों की मूर्तिकता का समर्थन—अब उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि शंकाकार द्वारा किया गया दोष निवारण यहाँ एक भी लागू नहीं होता श्रोत्र आकाशमय है, ऐसा जो शंकाकार का मन्तव्य है सो भी ठीक नहीं बैठता। अमूर्त आकाश किसी अन्य कार्य को करने की शक्ति से रहित है याने अन्य कार्य करने की शक्ति आकाश में नहीं है। यदि शंकाकार यह सोचे कि अदृष्ट की वजह से ऐसा हो लेगा, अन्य कार्य को शक्ति आकाश में आ जायेगी, इस पर आचार्यदेव कहते हैं कि इस सम्बन्ध में तो बहुत-बहुत विचारणीय बातें हैं। अच्छा यह बतायें शंकाकार कि वह अदृष्ट जो एक संस्कार बनाता है तो क्या वह आकाश में संस्कार बनाता है या यह अदृष्ट आत्मा में संस्कार बनाता है या यह अदृष्ट शरीर के एक देश में संस्कार बनाता है ? आकाश में संस्कार बनाता है, ऐसा कथन तो युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और अन्य के गुण होने से यह सम्बन्ध से रहित भी है। तो आकाश में तो संस्कार न बना सकेगा अदृष्ट। यदि कहा जाये कि आत्मा में संस्कार बना देगा तो आत्मा तो शरीर से अत्यन्त भिन्न है, अखण्ड है, उसमें संस्कार डाल दे अदृष्ट यह बात सम्भव नहीं है, सो आत्मा नित्य है, अखण्ड है, उसमें संस्कार अदृष्ट नहीं डाल सकता, शरीर के एक देश में अदृष्ट संस्कार डाल दे, यह भी बात युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य का गुण अन्य में सम्बन्धित नहीं होता। और भी जो उपाय श्रोत्रइन्द्रिय को मूर्तिक पौद्गलिक सिद्ध करने के लिये बताये हैं सो भी नहीं बनते। बात यह कि मूर्तिमान पदार्थ के सम्बन्ध से विपत्ति सम्पत्ति जो देखी जा रही है उससे यह सिद्ध है कि श्रोत्र मूर्तिक ही हैं, याने कान में तेल डाला तो उससे उस कान को लाभ हुआ, कान में घाव आ गया उससे दुःख हो रहा तो यह कैसे कहा जायेगा कि श्रोत्र इन्द्रिय आकाशमय है, वह तो पौद्गलिक ही है। और जो शंकाकार अपने दर्शन में ऐसा कहता है कि स्पर्शवान द्रव्य के अभिघात से शब्दान्तर का आरम्भ नहीं होता सो यह तो मन की ही बात कही, क्योंकि इसीलिये तो शब्द मूर्तिक हैं और पौद्गलिक हैं मूर्तिमान पदार्थ के द्वारा कोई भी अमूर्त पदार्थ दबता नहीं है और चूँकि भींट आदिक से ये शब्द दब जाते हैं इस कारण से सिद्ध हुआ कि शब्द पौद्गलिक हैं। आकाश का गुण नहीं है।

पुद्गलों के उपकारभूत वचन उपग्रह की पौद्गलिकता—पुदगलों का उपकारभूत वचन के विषय में चर्चा चल रही है। यहाँ शंकाकार कह रहा था कि शब्द अमूर्तिक है, आकाश का गुण होने से तो यह सिद्ध किया गया कि शब्द आकाश का गुण नहीं है क्योंकि वह मूर्त है। और कैसे समझें कि मूर्त हैं ? तो शब्द का अभिभव आदिक देखा जाता है। जैसे ताराओं के प्रकाश का सूर्य के प्रकाश से अभिभव देखा जाता, सूर्य के प्रकाश में तारागण नहीं दिखते तो इससे सिद्ध है कि वे सब तारायें मूर्तिमान पौद्गलिक हैं। इसी प्रकार वन में सिंह, हाथी, भेड़िया आदिक का शब्द होने पर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चिड़ियों के शब्द नहीं सुनाई देते हैं। बड़े-बड़े घटाओं के सामने छोटे शब्द नहीं सुनाई देते हैं। कुओं, गुफाओं में कोई आवाज बोली जाये तो उसकी झाईं (प्रति ध्वनि) आती है, तो आवाज टकराकर कुछ थोड़ा वापिस सुनाई देती है, इन बातों से सिद्ध है कि शब्द मूर्त है, आकाश के गुण नहीं हैं। यदि शंकाकार कहे कि अमूर्त पदार्थ का भी तो अभिभव देखा जाता है जैसे शराब आदिक पीने से विज्ञान का अभिभव देखा जाता। विज्ञान तो अमूर्त है और शराब मूर्त है तो मूर्त के द्वारा अमूर्त का भी तो अभिभव हो जाता है, तो इस प्रकार शब्द अमूर्तिक रहे। और मूर्त के द्वारा उसका अभिभव भी होता रहे इसमें कौन सा अपराध है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे विज्ञान का अभिभव बताया है कि शराब के द्वारा विज्ञान का अभिभव होता है। सो विज्ञान पौद्गलिक है क्योंकि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। तो जितने भी क्षयोपशमिक भव हैं वे भी पौद्गलिक कहलाते हैं। यदि यह विज्ञान पौद्गलिक न होता तो आकाश की तरह विज्ञान का भी अभिभव न हो सकता था।

पुद्गल के उपकारभूत मन उपग्रह का परिचय—अब सूत्र में कहे गये तीसरे निर्देश के विषय में कहते हैं कि मन दो प्रकार का होता है–(१) द्रव्य मन (२) और भावमन। सो ये दोनों ही प्रकार के मन पौद्गलिक हैं। द्रव्य मन तो पुद्गल उपादान से ही परिणत हुआ है। वह भी पौद्गलिक है और भाव मन पुद्गल का अवलम्बन लेकर बनता है, किसी भी बाह्य पदार्थ का ध्यान लेता है, द्रव्य मन का सहारा लेता है और वह भी कर्मों के क्षयोपशम से होता है अत: भाव मन जीव की परिणति होने पर भी पौद्गलिक है। यहाँ शंकाकार कहता है कि मन तो आत्मा से अत्यन्त ही भिन्न वस्तु है क्योंकि आत्मा अलग पदार्थ है और मन अलग पदार्थ है, भले ही मन का आत्मा में संयोग होता है और विज्ञान क्रिया चलती है, पर हैं पृथक् द्रव्य। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ स्याद्वाद से सिद्ध करना चाहिये। अर्थात एक दृष्टि से तो मन आत्मा से भिन्न नहीं है, दूसरी दृष्टि से मन आत्मा से भिन्न है। यही बात इन्द्रिय के विषय के भी हैं। जैसे वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर तथा ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा को ही इन्द्रिय परिणाम के आदेश से देखा जाये तो इन्द्रिय आत्मा से अन्य नहीं है और इस दृष्टि से देखें कि उस इन्द्रिय की निवृत्ति होने पर भी आत्मा बराबर रहता है। जैसे कि कोई पञ्चेन्द्रिय जीव मरा और चतुरिन्द्रिय में जन्म लेता है तो उसका वह पञ्चेन्द्रियपना समाप्त हो गया। अब यदि चतुरिन्द्रियपन हुआ तो पहले इन्द्रिय की निवृत्ति हो गयी और आत्मा फिर भी रहा आया। इस दृष्टि से देखा जाये तो इन्द्रिय आत्मा से अन्य चीज़ हैं। ऐसे ही क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा का ही मन रूप परिणाम होने से आत्मा से मन अन्य नहीं है, अर्थात भावमन आत्मा की ही एक परिणति है, किन्तु मन की निवृत्ति होने पर आत्मा रहता है इस दृष्टि से देखा जाये तो मन आत्मा से भिन्न है। जैसे कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव था और मरकर वह चौइन्द्रिय आदिक मन रहित में उत्पन्न हुआ तो मन की तो निवृत्ति हो गई और आत्मा बराबर रहा तो इससे मालूम हुआ कि मन भिन्न चीज है। यहां कोई ऐसा प्रश्न कर सकता है कि मन भी अवस्थायी है, उसकी निवृत्ति कैसे होती ? तो उन्हें यह जानना चाहिये कि अनन्तर समय में मन की निवृत्ति हो जाती है, और की तो बात क्या ? एक ही जीवन में मन रूप से परिणत पुद्गल गुण दोष के विचार स्मरण का कार्य करके उसके अनन्तर समय में ही मन रूप से हट जाता है अर्थात अब मन रूप रचना नहीं रहती है, अथवा इस विषय में भी स्याद्वाद का आश्रय लेना चाहिये कि मन कथ-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ञ्चित् अवस्थायी है और कथंचित् अवस्थायी नहीं है, द्रव्यार्थिक के आदेश से मन अवस्थायी है और पर्यायार्थिक के आदेश से मन अवस्थायी नहीं है।

मन की एक द्रव्यरूपता, अणुरूपता व प्रत्यात्मवर्तिता के सिद्धान्त की मीमांसा –यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि मन तो एक द्रव्य है और वह प्रत्येक आत्मा में रहता है ऐसा वैशेषिक सिद्धान्त में कहा गया है कि कोई जैसे रूप के देखने का प्रयत्न कर रहा है तो उस समय चूंकि ज्ञान उसका ही हो रहा है, अन्य का ज्ञान नहीं हो रहा है, इससे जाहिर होता है कि मन एक है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि एक मन में सबके जानने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। प्रत्येक आत्माओं की बात एक मन कैसे कर सकता है और फिर उस मन को माना है परमाणुमात्र, अत्यन्त छोटा मन, सो वह परमाणुमात्र मन आत्मा और इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर अपने प्रयोजन के प्रति व्यापार करता है। ऐसा इस शंकाकार का मत है। तो वहां यह विचार करना चाहिये कि वह मन जो आत्मा और इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है तो क्या सर्वदेश अथवा एकदेशसे संयुक्त होता है ? यदि कहें कि सर्व रूप से संयुक्त होता तो आत्मा और इन्द्रिय से भिन्न मन न रहा, अगर कहो कि अन्य एक देश सेआत्मा के साथ मन का सम्बन्ध होता है और अन्य किसी देश से इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है तो ऐसा पक्ष मानने पर तो मन में प्रदेशपना आ गया मायने मन अब बहुत अवयवों वाला बन गया, सो ऐसा शंकाकार मानते नहीं। मन को परमाणुमात्र मानते हैं, और भी देखिये - यदि आत्मा मन के साथ सर्वरूप से संयुक्त होता है तो मन तो अणु है, अतः अत्यन्त छोटा है, तो आत्मा भी अणु बन बैठेगा, क्योंकि आत्मा बड़ा हो और मन छोटा हो तो सर्वरूप से संयोग कैसे हो सकता ? अथवा जितना व्यापक आत्मा है उतना ही व्यापक मन बन बैठेगा, यदि सर्वदेश के संयोग माना जाये तो, यदि एक देश से आत्मा मन के साथ संयुक्त होता है तो आत्मा में प्रदेशत्व सिद्ध हो गया और इस गृह ज्ञान का, सुख का, दुःख का भिन्न-भिन्न प्रदेश में रहना हो गया। सो यों बन बैठेगा कि आत्मा में कोई प्रदेश तो ज्ञानसहित हैं और कोई प्रदेश ज्ञानरहित हैं। तो जो ज्ञानरहित प्रदेश हैं उनमें आत्मा का चिन्ह रहा नहीं। आत्मा का चिन्ह है ज्ञान। तो ज्ञानरहित प्रदेश या तो कहो अचेतन हो गया या कहो कि आत्मा के उन प्रदेशों का अभाव हो गया, फिर सर्वज्ञतापना तो न रहा। इस प्रकार मन यदि इन्द्रिय के साथ सर्वदेश से संयुक्त होता है तो मन अब परमाणु प्रमाण न रहा, क्योंकि इन्द्रियाँ परमाणु प्रमाण नहीं हैं। और इन्द्रियों के साथ सर्वदेश से मन का संयोग होता है तो मन छोटा न रहेगा। और भी देखिये—गुण और गुणी इनमें भिन्नता है और मन को नित्य माना है तो फिर इस मन का आत्मा के साथ वा इन्द्रिय के साथ संयोग विभाग परिणमन बन न सकेगा। फिर जानना कस सिद्ध हो ? यदि यों स्वीकार किया जाये कि संयोग विभाग रूप से मन परिणमता है तो मन नित्य न रहा और गुणी गुण में अन्यपना भी न रहा। दूसरी बात यह है कि मन तो अचेतन है तो उसका आत्मा और इन्द्रिय के साथ संयोग करने का ज्ञान तो नहीं है कि अब इस इन्द्रिय के साथ या इस आत्मा के साथ संयोग करना चाहिये अब अन्य इन्द्रिय से या अन्य आत्माओं से संयोग न करना चाहिये। तो मन में जब विशेष ज्ञान ही नहीं जग सकता तो विभिन्न प्रतिनियत आत्मा और इन्द्रिय के साथ संयोग का अभाव हो जाता है।

अचेतन अणु व एक मन का आत्माओं और इन्द्रियों के साथ संयोग की असम्भवता—यहाँ शंकाकार कहता है कि जैन लोग भी तो अचेतन कर्म को इस ही तरह मानते हैं कि कर्म अचे-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तन हैं और वे आत्मा के साथ संयुक्त हैं इन्द्रिय के साथ संयुक्त है और रचना भी करते रहते हैं तो ऐसे ही हमारे मन पदार्थ की बात भी समझिये कि हमारा मन भी अचेतन होकर इन सारी रचनाओं को करता रहता है। तो इसका उत्तर यह है कि कर्म में भी किसी दृष्टि से चेतनत्व स्वीकार है क्योंकि वह कर्म पौरुषेय परिणामों से अनुरंजित है याने आत्मा के जैसे भाव होते हैं उस भाव से अनुरंजित होकर पुण्य व पाप कर्म का बन्ध होता है तो इस दृष्टि से कर्मों में कथञ्चित चेतनता है और पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से देखा जाय तो कर्म में अचेतनता है। तो अनेकांत बल से कर्म में केवल अचेतनता ही न रही, अथवा कर्म दो प्रकार के हैं— (१) भावकर्म और (२) द्रव्यकर्म। भावकर्म तो जीव की विकृत परिणति का नाम है। सो जीव चेतन है तो उस चेतन की ही यह परिणति मन है और द्रव्य मन से देखा जाय तो वह पुद्गल द्रव्य के उपादान में ही हुआ है इस कारण अचेतन है। शंकाकार के यहाँ एक आपत्ति यह आती कि उन्होंने मन को माना अत्यन्त सूक्ष्म, तो अत्यन्त सूक्ष्म होने से मनका चक्षु आदि इन्द्रिय के रूपादिक ग्रहण की योग्यता नहीं रहती है। क्योंकि मन तो है छोटा, अब वह इन्द्रिय के साथ जुड़े तो समग्र इन्द्रिय से कैसे जुड़ सकता ? एक ही इन्द्रिय में पूरा कैसे जोड़ सकते ? तब जितने प्रदेश चक्षुओं ने अणुमन रोका है उनमें रागादिक के ग्रहण की सामर्थ्य रहती है। सब इन्द्रिय में यह सामर्थ्य न रही, मगर देखा यह गया है कि जब भी किसी वस्तु का ग्रहण होता तो पूरा ही ग्रहण होता है। देखिये यह बात सिद्ध है कि मन, अणु प्रमाण नहीं होता। यहाँ शंकाकार यदि यह कहे कि मन तो है अणु प्रमाण ही, मगर उसकी सीधी गति है इसलिए समग्र के ग्रहण का कारण हो जाता है तो उसका उत्तर यह है कि मन अचेतन है और अचेतन मन के बुद्धि पूर्वक सब जगह व्यापार नहीं हो सकता। यदि शंकाकार कहे कि अदृष्ट के कारण उस मन का सब जगह व्यापार हो जायगा, जैसे कोई पुरुष दण्ड चक्र को चला रहा, प्रेरणा कर रहा और उस तरह वह शीघ्रता से चला रहा तो वे चक्र के आरे सब जगह प्राप्त होते हैं ऐसे ही अदृष्ट की प्रेरणा से मन का व्यापार होता है और उस भ्रमण से सर्व में व्यापक विदित हो जाता है। इस शंका के उत्तर में कहते कि भाई जिस पुरुष ने उस चक्र की प्रेरणा की है वह पुरुष क्रियावान है और क्रियावान पुरुष के द्वारा प्रेरित किया गया वह चक्र सर्वत्र दिखता है, किंतु अदृष्ट तो आत्मा का गुण है। इस कारण वह स्वयं निष्क्रिय है। जो स्वयं क्रियारहित है वह अन्य में क्रिया करने का कारण कैसे हो सकता है।

मन का आत्मा से अनादि सम्बन्ध की असिद्धि—यदि शंकाकार यह कहे कि आत्मा के साथ मन का सम्बन्ध अनादि काल से चल रहा है तो यह कथन उनका योग्य नहीं है, क्योंकि अब तो आत्मा और मन का संयोग मान लिया है और संयोग होता है तब जब कि पहले तो उस चीज की प्राप्ति न हो और पीछे प्राप्त हो जाय उसे कहते हैं संयोग। जैसे पहले घड़ा रखा था, बाद में उसमें पानी भर दिया तो अब पानी का घड़े का संयोग हो गया ऐसा शंकाकार ने स्वयं माना है। तो अब मन द्रव्य का आत्मा के साथ इस तरह का सम्बन्ध बताओ अनादि हो सकता है क्या कि पहले में मन न था और पीछे आ गया तब तो वह कहलायेगा संयोग और ऐसा अगर होता है तो वह अनादि सम्बन्ध न रहा। अरहन्त भगवान के आगम में बताया है कि मन क्षायोपशमिक है और आत्मा पारिणामिक भाव रूप है। उसके साथ मन का अनादि सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यदि अनादि सम्बन्ध वाला मन रहे तो इसका परित्याग भी नहीं किया जा सकता और परित्याग देखा जाता है। इससे सिद्ध है कि मनका आत्मा से अनादि सम्बन्ध नहीं है। शंकाकार कहता है कि जैनों ने फिर कर्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का आत्मा के साथ अनादिसम्बन्ध कैसे मान लिया ? पहले आत्मा में कर्म न लगे हों और पीछे कर्म आकर लगे तब तो संयोग कहा जायेगा। जैसा कि हमारे सिद्धांत में आपत्ति दी है ? तो जैसे जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है और कर्म के परित्याग का विरोध भी नहीं है ऐसे ही मन का भी जीव के साथ अनादि सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। इसके उत्तर में कहते हैं यह कथन भी तुम्हारा युक्त नहीं है। यहां भी तथ्य स्याद्वाद से समझें —जीव और कर्म के बारे में ऐसा एकांत नहीं है कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध हो, किन्तु यथार्थ बात क्या है कि मिथ्यादर्शन आदिक परिणामों के द्वारा जो कर्मबन्ध हुआ उसकी अपेक्षा से तो कर्मबन्ध अनादि नहीं है। जिस समय कर्म बंधा उसके बंधने का प्रारम्भ समय वह है पर कर्मबंध की संतति की अपेक्षा देखा जाय तो अनादि सम्बन्ध है और इसी कारण जब कर्म बन्ध न हो ऐसा शुद्ध भाव बढ़ता है तो कर्म का प्रक्षय भी हो जाता है। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि मन तो इन्द्रिय का सहकारी कारण है। चक्षु आदिक इन्द्रिय ने इष्ट अनिष्ट रूप रस आदिक विषयों की उपलब्धि की। उस समय जिस जीव को सुख दुःख का अवगम होता है वह मन के सन्निधान में होता है इस कारण दूसरा पदार्थ दूसरे के व्यापार रूप नहीं होता। वह मन इन्द्रिय का ही सहकारी कारण है। उत्तर में कहते हैं कि मन को इन्द्रिय वेदनाओं का सहकारी कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्द्रियाँ अचेतन स्वभावी हैं वे स्वयं इन्द्रियाँ अपने आप अपने में इष्ट अनिष्ट रूप रस आदिक की ज्ञप्ति करती रहती हैं।

गुण दोष विचार स्मरणरूप कार्य से मन के अस्तित्व की सिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि मन है ही नहीं क्योंकि मनका पृथक उपकार कुछ नहीं देखा जा रहा। इन्द्रिय ने भी अपना अनुभव किया तो अब मन का उपकार क्या रहा ? देखने, सूघने, चखने वाली तो ये इन्द्रियां हैं, मन और करता क्या है ? और जब मन कुछ अर्थ क्रियाकारी न रहा तो उसे हो न समझिये। इसके उत्तर में कहते हैं कि मन का कार्य देखा जाता है और उससे मन की सत्ता की सिद्धि होती है। मन का काम है गुण और दोषों का विचार करना आदिक। जिनको मनोलब्धि प्राप्त है वे सज्ञी कहलाते हैं और उनके मन रूप से परिणामित हुए पुद्गल गुण दोष का विचार करना, स्मरण करना आदिक कामों में वह सहायक होता है। चाहे अंधकार हो, बाह्य इन्द्रिय का प्रतिघात हो, कैसी भी स्थिति हो, मन का काम इन्द्रिय से अलग है इस कारण यह मन वास्तविक पौद्गलिक है।

मन को क्षणिक विज्ञानरूप मानने के सिद्धांत की मीमांसा—यहां शंकाकार कहता है कि मन कोई अलग चीज नहीं है। विज्ञान का ही नाम मन रख लिया है। ५ इन्द्रिय ज्ञान और मनोज्ञान के बाद जो नष्ट हुआ विज्ञान है वही मन कहलाता है। ऐसा क्षणिकवाद सिद्धांत में कहा गया है और उसके अनुसार विज्ञान का ही नाम लोग मन रख देते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि शंका ठीक नहीं है। क्योंकि शंकाकार के उस विज्ञान में यह सामर्थ्य नहीं कि वह पदार्थ को जान सके। क्षणिकवाद में जो विज्ञान माना गया है, वह विज्ञान वर्तमान ही बाह्य अर्थ को जानने के लिये समर्थ नहीं है। फिर वह अतीत को कैसे जाने ? क्योंकि निरंशवादसम्मत विज्ञान क्षणिक है और वह पूर्व और उत्तर विज्ञान से कुछ सम्बन्ध रखता नहीं है। ऐसा क्षणिकवाद में माना है। तो वह वर्तमान विज्ञान जो एक क्षण को हुआ और पूर्व और भावीविज्ञान से कुछ सम्बन्ध नहीं वह विज्ञान गुण और दोष के विचार में, स्मरण में कैसे सहायता कर सकता है, क्योंकि यह स्मरण न तो स्वयं अनुभूत अर्थ का बन सकता है, न अननुभूत अर्थ का बन सकता है और न दूसरे के द्वारा अनुभूत अर्थ का बन सकता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। क्षणिकवाद में स्मरण बन ही नहीं सकता है। यहां शंकाकार कहता है कि विज्ञान क्षणिक जरूर है मगर एक संतान में पतित होने से स्मरण की उपपत्ति हो जायेगी अर्थात एक देह में लगातार आत्मा पैदा हो रहे हैं। विज्ञान उत्पन्न हो रहे हैं तो उनकी ही एक धारा चली है। उस धारा में आने के कारण स्मरण की उपपत्ति बन जाती है। उत्तर में कहते हैं कि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि विज्ञान तो अवस्तुरूप है। एक संतान में पतित हुआ भी विज्ञान पदार्थ की जानकारी स्मृति कैसे कर सकता है। जैसे अतीत देवदत्त वर्तमान पौत्रादिक का क्या उपकार कर सकता? जैसे एक वंश परम्परा में बाबा देवदत्त था और उनके लड़के और लड़के के लड़के उत्पन्न हो गए और वह देवदत्त गुजर गया तो वह गुजरा हुआ देवदत्त इन वर्तमान पोतों का क्या उपकार कर सकता, ऐसे ही अतीत जो विज्ञान है वह गुण दोष विचार का स्मरण कैसे कर सकता है? भले ही एक संतान में आया है मगर गुजरा हुआ विज्ञान आगे की बात का उपकार नहीं करता। शंकाकार कहता है कि जो विज्ञान अतीत हो गया, नष्ट हो गया वह विज्ञान बीज शक्ति रूप होकर अवस्थित सत् का आलम्बनरूप होता है। जैसे धान का बीज बो दिया और वह बीज अतीत हो गया, नष्ट हो गया मगर वह भविष्य में होने वाले अंकुर फल आदिक का आलम्बन तो बन जाता, तो ऐसे ही जो विज्ञान नष्ट हो गया वह आगे के गुण दोष विचार आदिक का आलम्बन बन जाता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि जो आलम्बन विज्ञान है उस एक का अन्य काल में अगर अवस्थान माना जाता है तब तो क्षणिकवाद न रहा और कालान्तरमें अवस्थान नहीं माना जाता तो आलम्बन भी नहीं बन सकता। इससे विज्ञान को ही मन कहना सिद्ध नहीं होता, किन्तु मन अन्त: एक पौद्गलिक रचना है और ज्ञानावरण के क्षयोपशम से द्रव्य मन का आलम्बन लेकर ज्ञान किया करता है।

मनको प्रकृति विकाररूप मानने के सिद्धांत की मीमांसा—अब यहाँ दूसराशंकाकार कहता है कि मन पौद्गलिक नहीं है किन्तु वह प्रधान का (प्रकृति का) विकार है। साँख्य सिद्धान्त में दो तत्त्व माने गए हैं—(१) पुरुष और (२) प्रधान। पुरुष तो जीव हुआ और प्रधान अचेतन हुआ। उनमें प्रधान ऐसा तत्त्व है कि जिससे सारी रचना चलती है। तो प्रधान का जो महान अहकार आदिक रूप में परिणमन होता है उसी प्रधान का कोई विकार विशेष मन कहलाता है। मन कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान अचेतन है। तो अचेतन के जो विकार होंगे, परिणमन होंगे वे भी अचेतनात्मक होंगे। जैसे मिट्टी अचेतन है तो मिट्टी से घड़ा, सकोरा आदिक जो बनेंगे वे भीअचेतनात्मक होंगे। मन को यदि प्रधानका विकार माना जाय तो मन अचेतन रहा फिर वह गुण दोष के विचार स्मरण आदिक कार्य में सहायक हो ही नहीं सकता। अच्छा यह ही बताओ कि जो मन है सो उसे तो करण माना है मन के द्वारा जानता है, पर जानने वाला कौन है? गुण दोष का विचार करने वाला कौन है? क्या पुरुष हैं अथवा प्रधान है? पुरुष को तो निर्गुण माना है इसलिएवहाँ विचार आदिक कुछ सम्भव ही नहीं हो सकते। ऐसा स्वयं सांख्यों में स्वीकार किया है, क्योंकि गुण दोष का विचार आदि ये तो सत्त्व गुणमय हैं। और सत्त्व, रज, तम ये गुण पुरुष में याने आत्मा में नहीं होते। तो विचार आदिक का कर्ता पुरुष नहीं माना जा सकता। और विचार आदिक का कर्ता प्रधान भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान अचेतन माना गया है। लोक में कोई भी अचेतन पदार्थ गुण दोष के विचार आदिक का कर्ता नहीं देखा गया है। अब सांख्यानुयायी यह बतायें कि जो प्रधान और प्रधान के परिणाम अहंकार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आदिक माने हैं सो यहाँ अब दो बातें आयीं। एक तो प्रधान तत्त्व, दूसरा उसका परिणमन। तो वह परिणमन प्रधान से भिन्न है या अभिन्न ? यदि बुद्धि अहंकार आदिक परिणमन प्रधान से भिन्न हैं तो जो यह प्रतिज्ञा की जाती है कि कार्य और कारण में एकत्व रहता है, याने एक ही पदार्थ में कार्य कारण भाव देखा जाता है, यह प्रतिज्ञा खण्डित हो जायेगी, और यदि बुद्धि, अहंकार, शरीर आदिक परिणमनों को प्रधान से अभिन्न माना जाय तो वह सब प्रधान ही कहलाये, परिणमन कुछ न रहे, तो जब परिणमन ही न रहा और प्रधान ही रहा तो मन कहाँ रहा ? निष्कर्ष यह है कि मन पौद्गलिक है और वह पुद्गलों का उपकार है। यहाँ उपकार का अर्थ भलाई से नहीं है। चाहे भला हो चाहे बुरा हो पर जीव के काम आ रहा है मन इसलिए यह पुद्गलों का उपकार कहलाता है।

पुद्गल के उपकारभूत प्राणापान उपग्रह का परिचय—अब सूत्र में कहे गये चौथे प्राणापान का विवरण करते हैं। प्राण और अपान ये दोनों पुद्गल के उपकार हैं। प्राण क्या है कि नाली से याने शरीर के भीतर रहने वाले कोठे से जो निकलने वाली वायु है उसको प्राण कहते हैं। इसका नाम उच्छ्वास है अर्थात निकलने वाली वायु उच्छ्वास प्राण कहलाती। इसका निर्माण कैसा है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम हो, ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो और अंगोपांग नाम कर्म का उदय हो, ऐसी स्थिति में उस जीव के शरीर कोष्ठ से निकलने वाली जो वायु है उसे प्राण कहते हैं। अपान का अर्थ है बाहरी हवा को भीतर करना। उस ही आत्मा के द्वारा जो बाहरी वायु भीतर को जाती है वह अपान कहलाती है। इसे श्वास कहते हैं। ये दोनों ही जीव के उपकारक हैं, क्योंकि जीव उस भव में जीवन बनाये रहने में कारण हैं। जब तक प्राण और अपान हैं तब तक जीव उस भव में जीवित है, प्राण अपान नष्ट हो जाने पर वह जीव उस भव में जीवित नहीं रहता। इसे मरण कहते हैं और मरकर यह आगे बढ़ देता है। तो ये प्राण और अपान मूर्त और पौद्गलिक हैं, क्योंकि इनका भी प्रतिघात देखा जाता। जैसे हाथ को मुख के सामने कर लें तो निकलती हुई वायु का प्रतिघात हो जाता। वह आगे नहीं जा पाती। कफ भीतर बढ़ जाये तो उससे भी श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात हो जाता। तो मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा अभिघात आदिक मूर्त के ही होंगे अमूर्त के नहीं होते और इस श्वासोच्छ्वास की परीक्षा हर एक लोग करते हैं। मरणहार पुरुष के मुख और नाक के आगे हाथ रखकर परीक्षा किया करते कि श्वासोच्छ्वास हैं या नहीं। तो जिसका अभिघात होता है वह मूर्त होता है, पौद्गलिक होता है।

प्राणापान से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान प्राण और अपान की क्रिया से तो आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। सभी लोग श्वासोच्छ्वास को देखकर कहते हैं कि अभी यह जिन्दा है। जब श्वासोच्छ्वास नहीं रहती तो कहते हैं कि बस मृतक हो गया है। तो प्राण और अपान से आत्मा का अस्तित्व इस तरह जाना जाता है जैसे यंत्र की प्रतिमा या कोई मशीनरी की चेष्टा हो तो वह ड्राइवर का याने उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व जनाता है इसी तरह श्वासोच्छ्वास के कार्य भी इस क्रियावान आत्मा को सिद्ध करते हैं। क्योंकि प्राण और अपान अगर न हों तो क्रियावान आत्मा नहीं है ऐसा स्पष्ट निर्णय रहता है। प्राण और अपान ये अकस्मात नहीं हो जाते क्योंकि इनका नियम देखा गया है। अकस्मात होने वाले का कुछ नियम नहींहोता और यह प्राण अपान क्षणिकवादसम्मत विज्ञान आदिक के द्वारा भी किया गया नहीं है, क्योंकि विज्ञान तो अमूर्त है। वह प्रेरणशक्ति से रहित है। वह कहीं प्रेरणा नहीं कर सकता। ये प्राण और अपानरूप और स्कंध के द्वारा भी किए

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गये नहीं हैं, क्योंकि वे रूप स्कंध भी अचेतन हैं। यहाँ यह शंका न रखना कि कुछ भी पदार्थ होता है तो वह निरीहक होता है। प्राण अपान या जो भी माना जाये उनमें ईहा व क्रिया तो होती नहीं, बुद्धि तो लगाई नहीं जाती, फिर व्यापार कैसे सम्भव है ? क्रिया कैसे सम्भव हो ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि क्रिया का अभाव माना जाय तो एक देश से दूसरे देश में जो मनुष्य आदिक का जाना देखा जाता उसका अभाव हो बैठेगा। शंकाकार कहता है कि वायु नामक धातु की विशेषता से देशान्तर में पहुँचना, प्रादुर्भाव होना क्रिया है। यह बात उपचार से मानी जाती है। मुख्य क्रिया नहीं है। उत्तर में कहते हैं कि वायु धातु विशेष में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अन्य देश में किसी मनुष्यादिक को ले जाय, क्योंकि वायु धातु भी क्षणिकवादियों के यहाँ निष्क्रिय है। मतलब प्राण और अपान ये आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं और क्रियावान आत्मा को सिद्ध करते हैं। तो प्राण और अपान ये पुद्गल के उपकार हैं।

सूत्रोक्त प्रथम पद में द्वन्द्व समास—यहाँ यह आशंका की जा रही है कि सूत्र में जो ४ बातें कही हैं - शरीर, वचन, मन और प्राणापान। ये सब प्राणी के अंग हैं और इनका द्वन्द्व समास किया है तो इनका एकवद्भाव अर्थात समाहार हो जाना चाहिये। बहुवचन न आना चाहिये। जैसे कि समाहार द्वन्द्व समास में अनेक शब्दों के साथ समास बन जाता है और एकवचन का प्रयोग रहता है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ ये चार सभी अंग नहीं हैं। यहाँ अंग और अंगी ये २ बातें पाई जाती हैं। सो जहाँ अंग और अंगी ऐसी दो बातें पायी जायें वहाँ समाहाररूप द्वन्द्व नहीं होता किंतु बहुवचन वाला द्वन्द्व होगा। प्राणियों के अंगों मेंही द्वन्द्व समास उनका एकवद्भाव होता है। अंग कहो अथवा अवयव कहो या एक देश कहो। ये एकार्थवाचक शब्द हैं। तो शरीर तो अंगी है और वचन, मन, प्राणापान ये सब अंग हैं, मायने शरीर का ही हिस्सा तो वचन है, मन है और श्वासोच्छ्‌वास है अथवा वचन आदिक ये अंग भी नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये अवस्थित नहीं हैं। जैसे शरीर में दाँत हैं, जहाँ हैं वहाँ ही हैं, उन्हें अंग कह सकते, पर वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, ये अवस्थित कहाँ हैं, और फिर ये चारों नाना प्राणियों की अपेक्षा कहे गये हैं। एक प्राणी के विषय में कहे जाते तो भी समाहार की युक्तता मानी जा सकती थी। तो इस प्रथम पद में द्वन्द्व समास है और एकवद्भाव नहीं है यानेसमाहार नहीं है किंतु बहुवचन वाला द्वन्द्व समास है।

पुद्गल और उपग्रह का अर्थ—यहाँ पुद्गल का उपकारबताया जा रहा है। पुद्गल कहलाता है वह पदार्थ कि जिसमें पूरण और गलन होता है, अथवा जो पुरुष के द्वारा गिले जाते हैं, ग्रहण किये जाते हैं वे पुद्गल कहलाते हैं। पुद्गलानां इस पद में षष्ठी विभक्ति इस कारण है कि उपग्रह शब्द जिसकी अनुवृति आ रही है वह भावसाधन है अर्थात उपग्रहण करना उपग्रह है, उपकार है याने जीव के लिये शरीरादिक परिणमनों के द्वारा पुद्गल उपग्रह किया करते हैं। यदि एकांत से इस पुद्गल को निष्क्रिय माना जाय या आत्मा को निष्क्रिय माना जाय और उस आत्मा को अत्यन्त शुद्ध माना जाय तो शरीरादिक के साथ आत्मा का बन्ध नहीं हो सकता। जब बन्ध नहीं है तो पुद्गलकृत उपकार भी न रहा या प्रकृतिकृत उपकार न रहा। जब क्रिया हेतुपना कुछ न रहा तो संसार का अभाव हो गया। संसार का अभाव होने से फिर मोक्ष कैसे हो सकता है ? सो यह शरीरादि पुद्गलों का उपकार है, इनका वियोग होना मोक्ष है। अब पुद्गल का अन्य उपकार भी बतला रहे हैं।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥५—२०॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सुख दु:ख, जीवित व मरण उपग्रह का परिचय—सुख, दु:ख जीवन, मरण ये उपग्रह पुद्गल के उपकार हैं, क्योंकि पुद्गल के सम्बन्ध के बिना सुख दु:ख जीवन, मरण नहीं होता है। कहीं संयोग से कहीं वियोग से। दु:ख सुख किसे कहते हैं कि बाह्य कारण के वश से और सातावेदनीय के उदय से आत्मा में जो प्रसाद पैदा होता, हर्ष प्रीति रूप परिणाम होता उसका नाम सुख है। तो जो आनन्द है वह तो पुद्गल का उपकार नहीं है, पर सुख पुद्गल का उपकार है। आनन्द तो आत्मा में मग्नता के कारण स्वभाव से उत्पन्न होता है और सुख बाह्य विषय का आलम्बन हो, सातावेदनीय का उदय हो तो सुख होता है, इस कारण सुख पुद्गल का उपकार है। दु:ख किसे कहते हैं ? बाह्य कारणों की वजह से असातावेदनीय के उदय से जो संक्लेश से भरा हुआ आत्मा का परिणाम है वह दु:ख कहलाता है। दु:ख भी पुद्गल का उपकार है। जैसे कंटक लगा या विषय का बाधक पुरुष सामने आया उस पर दृष्टि जाकर असातावेदनीय का भीतर उदय चल रहा है तो जो संक्लेश भाव है वह दु:ख है। यद्यपि वह संक्लेश भाव और हर्ष भाव जीव का ही परिणमन है मगर पुद्गल के उपकार बिना नहीं हो सकता। पुद्गल का आलम्बन आवश्यक है, जीवन किसे कहते हैं ? भव की स्थिति का निमित्तभूत आयुकर्म है। उसके उदय से भव की स्थिति प्राप्त होती है। जितने समय का आयु कर्म का उदय है उतने समय यह जीव उस भव में रहता है। तो उस जीव की श्वासोच्छ्वास रूप क्रिया विशेष नष्ट न होवे उसका नाम जीवन है। यह प्राणापान याने श्वास लेना और निकलना यह प्रत्येक संसारी जीव में चलता है। जो एकेन्द्रिय जीव है उसके भी श्वासोच्छ्वास है। पृथ्वी हो, जल हो, अग्नि, वायु, वनस्पति, पेड़ वगैरह इनके भी श्वासोच्छ्वास होता है, और यह श्वासोच्छ्वास मुख्यता से तो मुख और नाक से लेने और निकालने की वायु का नाम है। मगर शरीर में सब जगह से जो वायु निकले, वायु ग्रहण करे या नाड़ी वगैरह चले तो वह सब श्वासोच्छ्वास कहलाता है। तो एकेन्द्रिय जीव के मुख नहीं है मगर उनके सारे शरीर से श्वांस और उच्छ्वास चलता रहता है, मरण किसे कहते हैं ? जीवन के विनष्ट होने का नाम मरण है, श्वासोच्छ्वास खतम तो जीवन खतम, आयु का उदय समाप्त हुआ तो इसे कहते हैं मरण।

सूत्र निहित सुख आदि शब्दों के क्रम का कारण और समासविधि का विवरण—अब इस सूत्र में चार उपग्रह बताये गये, तो उनका नाम जिस क्रम से रखा, उसका कारण बतलाते हैं। सबसे पहले सुख शब्द रखा। वह यह जाहिर करता है कि सर्वप्राणियों का जो कुछ भी परिस्पंद होता है, क्रिया होती है, चेष्टा होती है वह सुख की प्राप्ति के लिये होती है और इसी कारण सूत्र में सुख का ग्रहण सबसे पहले किया है। उसके बाद दु:ख शब्द कहा है, तो दु:ख सुख का प्रतिपक्ष है, क्योंकि सुख तो प्रीति का कारणभूत है, दु:ख अप्रीति का कारणभूत है, और सुख के साथ दु:ख तो सारी दुनिया बोलती है, जैसे—अजी शरीर में सुख दु:ख तो लगे हैं, दु:ख सुख शायद ही कोई बोलता हो। तो सुख का प्रतिपक्ष होने से सुख के बाद दु:ख का नाम लिया है। सुख दु:ख दोनों शब्दों के निर्देश के बाद जीवित शब्द दिया है। उसका प्रयोजन यह है कि सुख और दु:ख ये जीवित रहने वाले प्राणियों के हुआ करते हैं इसलिये इन दोनों के बाद जीवित शब्द का ग्रहण किया है। अन्त में मरण शब्द कहा है। सबसे अन्त में मरण ही होता है। तो अन्त में प्राप्य होने से मरण का अन्त में निर्देश किया गया है। आयु के क्षय के निमित्त से मरण होता है तो वह उस भव की आखिरी चीज है इस कारण अन्त में निर्देश किया है। यहाँ पहले द्वन्द्व समास किया है फिर कर्मधारय समास हुआ याने यह ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपग्रह है, ऐसा कहकर इसमें विशेष्य विशेषण वाला समास हुआ है। यह उपग्रह किसका है ? तो पुद्गलानां, इसकी अनुवृत्ति पहले कहे गये सूत्र से आती है। वह पूर्व सूत्र है 'शरीर वाङ्मन प्राणापानाः पुद्गलानाम' शरीर, वचन, मन और प्राणापान ये उपग्रह पुद्गलों के उपकार है।

प्रकरण सिद्ध होने से सूत्र में उपग्रह शब्द कहने की आवश्यकता न होने पर भी उपग्रह शब्द के कथन का रहस्य—यहाँ एक शंका है कि जब पुद्गलों के उपकार का प्रकरण चला आ रहा है और पुद्गल का ही उपकार इस सूत्र में बताया जा रहा है। फिर उपग्रह शब्द कहने की आवश्यकता तो न थी। उत्तर—बात सही है उपग्रह शब्द कहने की आवश्यकता न थी और फिर भी कहा है तो उसमें एक नई बात जाहिर होती है। वह यह बात जाहिर होती कि धर्म अधर्म और आकाश जिसके कि उपकार पहले बता दिये गये वह द्रव्य तो दूसरों का ही उपग्रह करता है, याने धर्मद्रव्य जीव पुद्गल के गमन का निमित्त है, तो दूसरे का ही तो कार्य किया, अधर्मद्रव्य ने भी दूसरे का किया और आकाश ने भी दूसरे को अवकाश दिया तो ये तो दूसरों का ही उपकार करते हैं, किन्तु इस तरह ये पुद्गल नहीं हैं, ये दूसरे का भी कार्य करते हैं। और खुद का भी कार्य करते हैं। वह किस प्रकार कि जैसे कोई बर्तन मलना है तो राख से बर्तन मले तो वह राख भी पुद्गल और बर्तन भी पुद्गल, तो पुद्गल ने पुद्गल का उपकार किया और पुद्गल ने जीव का भी उपकार किया, तो पुद्गल के लिए जीव तो पर पदार्थ हुये और पुद्गल के लिये पुद्गल स्व पदार्थ हुये। जैसे कोई जल है या कोई गंदा पानी है उसमें कतक या फिटकरी डाल दी जाये तो वह गन्दा जल साफ हो जाता। तो इस तरह ये पुद्गल पुद्गल का भी उपकार करते हैं और जीवन का भी कार्य करते हैं। तो दोनों बातें जाहिर करने के लिये इस सूत्र में उपग्रह शब्द दिया है।

अब यहाँ कोई शंका करता है कि सुख दुःख जीवन ये तो पुद्गल के उपकार हुये, पर मरण कैसे उपकार कहलायेगा ? मरण तो बुरी चीज है, उसे कहते हो कि यह पुद्गल का उपग्रह है, उपकार है, वह कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि वह तो अनिष्ट है, किसी को भी मरण इष्ट नहीं है, उसे उपकार कैसे कहा जा रहा ? तो शंका के उत्तर में कहते हैं कि मरण भी किसी को प्रिय होता है, जैसे जो विरक्त पुरुष है, जिसकी आयु क्षीण होने को है, ज्ञानी पुरुष है तो मरण का उत्सव तक मनाता है, समाधि मरण समारोह मनाया जाता है और वहाँ वह प्रसन्नता भी पाता है, तो व्याधि होने की वजह से या पीड़ा आदिक होने से अत्यन्त बुढ़ापा होने से, शरीर के जीर्ण हो जाने से जीवन में जिसका आदर नहीं रहा और जो विरक्त है उस पुरुष को मरण भी प्रिय देखा जाता है, अथवा एक प्रयोजन बताने के लिए मरण को एक कार्य बताया है। चाहे इष्ट हो चाहे अनिष्ट हो, पर पुद्गल के आलम्बन से ये सब कार्य होते हैं, यह बात बताने के लिये मरण को उपकार कहा है।

पुद्गलों का उपकार बताने के प्रकरण में पृथक् पृथक् दो सूत्र बनाने का रहस्य—अब यहाँ एक शंका हो रही है कि यहाँ दो सूत्र कहे गये पुद्गल के उपकार में। पहला सूत्र था कि शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्। और दूसरा सूत्र है सुख दुःख जीवित मरणो प्रग्रहाश्च। तो जब ये दोनों सूत्र पुद्गल का उपकार बतला रहे हैं तो दो जगह क्यों रखे ? एक ही सूत्र में दोनों शामिल कर लेते, कुछ लाघव भी हो जाता। इसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ दो सूत्र कहने से यह परिस्थिति आती है कि पहले सूत्र में कहे गये शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये तो कारणभूत हैं, और इस सूत्र में कहे गये सुख दुःख जीवन मरण ये फल हैं सो कभी कोई इनमें ऐसा क्रम न लगाने लगे

http://www.jainkosh.org

कि शरीर से तो सुख होता है, वचन से दुःख होता है, मन से जीवन होता है और श्वासोच्छ्वास स मरण होता है। उन चार को इन चार के साथ क्रम का मेल न बैठा लें, क्योंकि क्रम का मेल नहीं बैठता है। शरीर ही सुख, दुःख, जीवन, मरण इन चारों का कारण है और श्वासोच्छ्वास भी चारों का कारण है, अच्छा बिना कष्ट के श्वाँस निकले सो सुख हुआ, रुक-रुककर निकले तो दुःख हुआ। जब तक जीवन है, जीवन है, और खतम हो गये तो मरण हो गया। तो कहीं कोई क्रम की कल्पना न कर बैठे इस कारण से दो सूत्र पृथक बनाये गये हैं। दूसरा कारण यह है कि इसके आगे एक सूत्र आयेगा "परस्परोपग्रहो जीवानाम्। जिसका अर्थ यह है कि जीवों का उपकार परस्पर का कार्य करना है। तो वह परस्पर का कार्य क्या है। यह सुख दुःख जीवन मरण। तो इसका सम्बन्ध अगले सूत्र से भी जुड़ जाये, इसके लिये इस सूत्र को अलग कहा गया है।

नित्यैकान्तवाद व क्षणिकैकान्तवाद में सुख दुःखादि की अनुपपत्ति—अब यहाँ एक बात और समझना कि पुद्गल और जीव इनको जो कोई सर्वथा नित्य बनाता है उसके यहाँ सुख दुःख जीवन मरण घटित नहीं हो सकते। जो सर्वथा नित्य बनता है वहाँ भी सुख दुःख आदि नहीं हो सकते। जैसे कोई कहे कि जीव सदा नित्य अपरिणामी है, उसकी कुछ बदल ही नहीं होती, ऐसा ध्रुव है तो सुख दुःख कहाँ से आयेंगे। सुख दुःख तो बदल के ही नाम हैं और जब नित्य में पूर्वकाल और आगे का काल में एक ही बात रह गई और अन्य परिणाम न माना गया, कोई विकार न माना गया तो सुख दुःख नहीं बन सकते, और जो लोग जीव को सर्वथा अनित्य कहते हैं, एक क्षण को पैदा हुआ और दूसरे क्षण नष्ट हो गया तो उसमें भी सुख दुःख कैसे होगा? जब कुछ बाहर ठहरे तब तो सुख दुःख की कल्पना बने। एक ही क्षण में उत्पन्न हुआ, दूसरे में रहा नहीं, तो जब अवस्थान ही न रहा तो सुख दुःख आदिक का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। पुद्गल में भी कोई चीज अवस्थित हो इष्ट अनिष्ट पदार्थ, उनके शब्द, उनका रूप, उनका स्पर्श हमारे ग्रहण में आये तो सुख दुःख आदि हो सकते। अब जिसके दर्शन में पुद्गल भी एक क्षण को ठहरते तो उनका सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। तो जब पुदगल भी क्षणिक है तो उनका समागम न रहेगा। जीव अगर क्षणिक है तो उसमे ये सुख दुःख आदिक के अनुभव न बनेंगे। तो सर्वथा अनित्य मानने में उसके भी सुख दुःख आदिक नहीं बनते किन्तु स्याद्वाद विधि से जो जीव को और पुदगल को नित्यानित्यात्मक मानें कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से तो ध्रुव है, पर्यायार्थिक दृष्टि से विनाशीक है, वहाँ सुख दुःख आदिक का सम्बन्ध बन सकता है, क्योंकि सुख दुःख आदिक अकस्मात् नहीं होते। कहीं भी किसी के किसी क्षण हो जायें सो नहीं है, किन्तु वे शुभ अशुभ भावनापूर्वक होते हैं। और शुभ अशुभ की जो भावना है या शुभ अशुभ रूप इष्ट अनिष्ट की भावना यह बनती जाये यह तब बने जब स्मरण से कुछ सम्बन्ध बने, और स्मरण क्षणिकवाद में हो नहीं सकता। एक क्षण को हुआ, नष्ट हो गया। स्मरण तो उसे कहेंगे कि पहले था, अब भी है और उसने पहले का ख्याल किया पर क्षणिकवाद में स्मरण न बनेगा। स्मरण न बने तो शुभ अशुभ भाव की सम्भावना नहीं रहती और शुभ अशुभ रूप सम्भावना न रहे तो सुख दुःख आदिक नहीं हो सकते। तो ये सारी बातें नित्यानित्यात्मक आत्मा में होती हैं और नित्या-नित्यात्मक पुद्गल के सम्बन्ध से होती हैं। यहाँ तक चार अजीव पदार्थों के अनुग्रह बताये गये – धर्म, अधर्म आकाश और पुद्गल। तो जैसे ये चार पदार्थ पर पदार्थ के कार्य करते हैं वे पर के कार्य में निमित्त होते हैं तो क्या ऐसे ही जीवों का भी उपग्रह है कि वे पर पदार्थ का उपग्रह करें मायने अजीव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का उपकार करें ? इसके समाधान में हम कहते हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥५-२१॥

परस्परोपग्रह जीवों का उपकार—जीव का उपकार जीवों में ही परस्पर उपग्रह करना है, वह परस्पर का कार्य किस प्रकार है ? जैसे मालिक और नौकर इनका भी परस्पर उपग्रह है। नौकर के द्वारा मालिक का उपकार होता और मालिक के द्वारा नौकर का उपकार होता। गुरू के द्वारा शिष्य का उपकार होता, शिष्यों को अध्ययन आचरण सिखलाता है और शिष्य के द्वारा गुरू का कार्य होता सेवा, विनय, व्यवहार के वचन, उनसे ही गुरू प्रसन्न होते, यह भी उपग्रह है। तो इस तरह जीवों का परस्पर उपकार चलता है। जैसे मालिक तो धन के त्याग आदिक से सेवकों के उपकार में रहता है और सेवक हित की बात कहने में और अहित की बात का निषेध करने में मालिक का उपकार करता है। यहाँ यह बात भी जानना कि कोई यह सोचे कि मालिक सेवक का उपकारी है सो यह एकान्त ठीक नहीं, सेवक मालिक का भी उपकारी है। दूसरी बात यह जानना कि वास्तविक सेवक वह है जो मालिक के हित की बात करे और अहित की बात का त्याग कराये। तो इस प्रकार मालिक और सेवक में परस्पर उपग्रह हुआ। गुरू और शिष्य में कैसे उपकार हुआ ? तो गुरू तो इह लोक परलोक के फल देने वाला उपदेश देता है कि ऐसे कार्य करने से इस लोक में यह मिलता है, परलोक में यह फल मिलता है, और उस उपदेश में बतायी गई क्रियाओं का आचरण करवाते हैं—तुम इस तरह से व्रत पालो, आचरण करो, यह तो है गुरू का शिष्य पर उपकार और शिष्यजन गुरू के अनुकूल अपना आचरण रखने से विनय व्यवहार वचन बोलने से उनको मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न कराते हैं। तो इस प्रकार गुरू और शिष्य ये परस्पर उपग्रह करते हैं।

प्रकरण सिद्ध होने पर भी सूत्र में उपग्रह शब्द देने का रहस्य—अब यहाँ एक शंका होती है कि कई सूत्रों से ये उपग्रह की बातें बतायी जा रही हैं कि किसके द्वारा किसका कैसा कार्य बनता है, तो यह तो प्रकरण की ही बात थी, फिर इस सूत्र में उपग्रह शब्द क्यों कहा ? वह तो अपने आप जाहिर हो जाता। जिसका उपकरण है उसकी बात अपने आप लग जाती है फिर उपग्रह कहना तो निरर्थक रहा। इसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ उपग्रह शब्द के कह देने से यह बात जाहिर होती है कि इससे पहले सूत्र में जो चार बातें बतायी थीं उस सुख, दुःख, जीवन, मरण रूप से उपग्रह होता है जीवों का परस्पर में, यह बात समझाने के लिये यहाँ उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है। अथवा यहाँ एक बात यह भी समझना कि जीवों का परस्पर उपग्रह केवल दो के बीच भी कहा जा सकता है। लेकिन यहाँ केवल दो जीवों का ही परस्पर कार्य न लेना, जैसे स्त्री पुरुष रमण क्रिया में एक साथ एक के द्वारा दूसरे को सुखी देखते इस तरह की बात नहीं, किन्तु एक जीव के द्वारा एक, दो या बहुतों के भी सुख दुःख आदिक हो जायें। एक ही जीव के द्वारा दो, चार अनेक का जीवन बने, अनेक का मरण बने तो ऐसी अनेकता बताने के लिये यहाँ उपग्रह शब्द दिया है, जैसे कोई जीव अपना सुख कर रहा है और दूसरे के एक का सुख कर रहा, कभी दो का कर रहा, कोई बहुतों का कर रहा, ऐसे ही दुःख, जीवन, मरण का भी समझना चाहिए। तो इस तरह से जीव जीवों के ही उपग्रह के काम आते हैं। अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जो भी सत् होता है उसे उपकारी अवश्य होना चाहिए। यह बात अब तक जाहिर हुई है। तो सत् तो काल भी है, तो काल का क्या उपकार है। सो काल का उपकार अगले सूत्र में कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ।।५-२२।।

काल के उपकारभूत वर्तमान उपग्रह का परिचय—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये उपग्रह काल के उपकार हैं, वर्तना शब्द वृतु धातु से युच् प्रत्यय होने पर वर्तना शब्द बना है और इसका प्रयोग कर्मसाधन और भावसाधन में हुआ है, जिससे अर्थ यह निकला कि प्रति समय स्व-सत्तानुभूति होना यह काल का उपकार है। प्रत्येक पदार्थ प्रति समय में अपनी सत्ता की अनुभूति करते हैं। तो ऐसी वर्तना मानने में एक क्षण का। परिणमन यह काल द्रव्य का उपकार है। वर्तना शब्द इस तरह भी बन सकता था कि जिसके द्वारा वर्ते सो वर्तना या जिसमें वर्ते सो वर्तना ऐसा विग्रह करके वर्तना शब्द बनाया जा सकता था मगर उस विग्रह में वर्तना शब्द नहीं बनता, वर्तनी शब्द बनता है। नदी की तरह ङीप् प्रत्यय लगाकर। तो यहाँ व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तना का अर्थ यह है कि जो सत्ता की अनुभूति है सो वर्तना अथवा जो वर्तनाशील हो उसका नाम है वर्तना। वर्तना का लक्षण क्या है सो सुनो। द्रव्य की पर्याय के प्रति अन्तर्नीत मायने भीतर में प्रकट हुई एक समय की जो स्व-सत्तानुभूति है उसे वर्तना कहते हैं मायने एक समय का परिणमन। चूंकि परिणमन कोई अलग पदार्थ नहीं है। वह द्रव्य की परिणति है इसलिए एक समय के परिणमन में जो सत्ता की अनुभूति हो रही है, वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकता वाली अनुभूति है, जिसका कि विधि से, शब्द से, अनुमान से, हेतु से अस्तित्व जाना जाता है क्योंकि एक समय की परिणति हम आपको प्रत्यक्ष नहीं हो पाती। यद्यपि सत्ता सर्व पदार्थों की एक समान है तो सादृश्य के विचार से सत्ता को एक भी कह दिया जाये लेकिन प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, जीव अजीव आदिक भेद प्रभेदों से सम्बन्ध को पाकर विशिष्ट शक्तियों के साथ अपनी अपनी सत्ता का सम्बन्ध है, उसकी अनुभूति होना वर्तना है। जैसे एक अविभागी समय में धर्मादिक छहों द्रव्य अपनी पर्यायों से उत्पाद व्यय ध्रौव्य विकल्पों से रहते हैं तो ऐसी एक समय में जो स्थिति होती है उसको वर्तना कहते हैं। एक समय इतना सूक्ष्म है कि आँख की पलक जल्दी गिरने में जितना समय लगता है उसमें असंख्यात समय होते हैं। उनमें से एक समय की परिणति रूप सत्ता अनुभूति को वर्तना कहते हैं।

वर्तना का अनुमान द्वारा ज्ञापन— यह वर्तना अविभागी समय की स्वसत्तानुभूति है। उसका ज्ञान कैसे हो ? तो अनुमान द्वारा उसका ज्ञान होगा। जैसे चावल पकाये गये तो वे आधा घण्टा में पके तो बताओ क्या वे २९ मिनट तक कुछ भी नहीं पके और ३०वें मिनट में ही एकदम से पक गए ऐसा है क्या ? प्रति मिनट पके और एक मिनट में होते ६० सेकण्ड, तो प्रति सेकण्ड में पके और एक सेकण्ड में होते हैं असंख्यात समय, तो प्रत्येक समय में पके। अब एक समय का जो पकना है वह वर्तना जैसी स्थिति है, क्योंकि यदि प्रथम समय में नहीं पका तो द्वितीय समय में भी नहीं पका, तो फिर कभी पकेगा ही नहीं। चावल पक रहे हैं तो प्रति समय पक रहे हैं। अब नये-नये समय बढ़ते हैं तो पके के बाद पकना फिर पके के बाद पकना सो बाद में मालूम पड़ता है कि पका, मगर जिस क्षण आग पर रखा उसी क्षण से पकना प्रारम्भ हुआ। तो ऐसे ही समस्त द्रव्यों में जो उनकी पर्याय रची हुई है वह प्रति समय उनकी निष्पत्ति हुई है। वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जाना जाना कठिन है, पर अनुमान द्वारा भले प्रकार समझा जाता है।

काल की वर्तना का निर्देश—वर्तना जिसका लक्षण हो उसे काल कहते हैं। अब समय आदिक जो क्रिया विशेष हैं, जो उन समयों में रचे गए हैं उन पर्यायों का अपने आपकी सत्ता में

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनुभव चल रहा है और उनकी इस रचना का बहिरङ्ग कारण समय है और वह समय अन्य पदार्थों मे वर्तना रूप है, पर समय नामक पर्याय किसकी है? काल द्रव्य की। काल द्रव्य में प्रति समय स्वतन्त्र स्वतन्त्र समय नामक पर्याय चलती रहती है। यहाँ जो घड़ी घण्टा आदिक समय कहते हैं वह तो मिलाकर समुच्चय करके एक कल्पना किया हुआ सम्बन्ध वाला समय है। वास्तविक समय एक है और वह काल द्रव्य की पर्याय है। तो वर्तना काल द्रव्य में भी हुई और अन्य समस्त द्रव्यों में भी हुई, मगर परिणाम क्रिया आदिक काल द्रव्य में नहीं होते, यह अन्य द्रव्यों में होता है। √

सूर्य गति, आकाश आदि में वर्तना की निमित्त कारणता का प्रतिषेध—यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि काल द्रव्य से निकला ऐसा कुछ दिखता नहीं है, पर यह बात कुछ सामने दिख रही है कि सूर्य की गति से समय निकला। सूर्य जैसे चलता है उसका निमित्त पाकर पदार्थों में वर्तना होती है। एक समय के परिणमन को वर्तना कहते हैं। सो काल द्रव्य मानने की जरूरत नहीं, सूर्य की गति से समय बना और पदार्थों का परिवर्तन समय गुजरने से हुआ। यह शंका यहाँ यों ठीक नहीं है कि सूर्य की गति से हमने समय तो जाना, पर सूर्य में जो खुद वर्तना हो रही है, खुद परिणमन हो रहा है उसका कौन सा निमित्त है? तो वह निमित्त है काल द्रव्य अर्थात काल द्रव्य की समय समय की परिणति। कोई शंका कर सकता है कि सूर्य की गति वर्तना में, पदार्थ के परिणमन में कारण न मानो तो आकाश प्रदेश को कारण मान लो। आकाश में पदार्थ है और अपनी योग्यता से परिणमता है तो सब पदार्थों के परिणमने का निमित्त कारण आकाश के प्रदेश हुये। काल नामक कोई हेतु न मानना चाहिये। यह शंका भी यों ठीक नहीं है कि काल द्रव्य तो इन सब पदार्थों की वर्तना के प्रति आधारभूत है। निमित्त कारण तो काल द्रव्य है। जैसे बटलोही में चावल पकाया तो चावल पकने का कारण बटलोही नहीं। बटलोही तो उसका आधार है, पर चावल पकने का कारण तो अग्नि का संयोग है। यद्यपि बटलोही आदिक न होते तो पकना न बनता मगर वे आधारभूत हैं। निमित्तभूत नहीं हैं। तो आकाश सभी पदार्थों की और सूर्य की गति आदिक की वर्तना में आधार है, पर आकाश पदार्थों की वर्तना नहीं बनाता, परिणति नहीं बनाता। परिणति होना तो काल द्रव्य का उपकार है। कोई यह भी शंका कर सकता है कि सर्व पदार्थों में अपनी अपनी सत्ता बनी हुई है और उस सत्ता के ही कारण वर्तना होती रहती है याने प्रति समय वर्तना चलती रहती है। इस काल द्रव्य के मानने की जरूरत नहीं है। यह शंका यों ठीक नहीं कि सत्ता का भी अनुग्रह काल द्रव्य करता है क्योंकि सत्ता मायने क्या? काल के द्वारा सत्ता की वर्तना बनने में कोई अन्य ही निमित्तभूत होना चाहिये। वह है काल द्रव्य। अनेक जगह ऐसा बोला जाता है कि काल द्रव्य का वर्तना लक्षण है। सो यह यों कहा गया कि काल द्रव्य में परिणाम आदिक नहीं हैं, वर्तना ही मात्र है और वह एक समय की परिणति है, सो पर्याय मुखेन काल द्रव्य का परिचय कराया गया है। जिसकी प्रति समय वर्तना परिणति हो उससे जाना जाता है काल द्रव्य। तो वर्तना एक काल द्रव्य के निमित्त का उपग्रह है।

कालद्रव्य के उपकारभूत परिणाम उपग्रह का परिचय—अब वर्तना के बाद आया है परिणाम। परिणाम का अर्थ है कि द्रव्य में अपनी-अपनी जाति का उल्लंघन न करके कोई उपयोग आ जाना, कोई बदल आ जाना इसको परिणाम कहते हैं यह परिणाम एक समय में नहीं होता। एक समय की तो वर्तना है। अब यह था, अब यह बदल गया। ऐसा जो एक व्यक्त परिणमन है वह तो अनेक समय में होगा। ऐसे विकार परिणाम कहीं तो प्रायोगिक होते हैं। किसी दूसरे की प्रेरणा से

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होते हैं और कहीं पदार्थ में स्वभाव से ही होते हैं। तो परिणाम हुआ, बदल हुई। जीव अजीव द्रव्यों में बदल होती। चेतन द्रव्य हो या अचेतन द्रव्य हो, उसमें जब हम द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से देखते हैं तो यह विदित होता है कि द्रव्यों की जाति को नहीं छोड़ता। और, पर्यायार्थिकनय से देखते हैं तो वहाँ यह जाहिर होता कि किसी पर्यायरूप से तो उत्पन्न हुआ है सो पूर्व पर्याय की अनुभूति पूर्वक विकार हुआ है। कहीं किसी पदार्थ की प्रेरणा से हुआ है तो कहीं पर की प्रेरणा बिना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ में परिणमन होता है, पर जो व्यक्त होवे, समझ में आये परिणमन तो वह परिणमन विषम होगा। एक सा परिणमन अपनी बुद्धि में न आयगा। जैसे प्रभु में केवलज्ञान केवलज्ञानरूप परिणमन प्रति समय होता रहता है तो वह विषम नहीं होता। संसारी जीवों में रागद्वेष क्रोधादिक भाव परिणमन होते हैं। ये विषम होते हैं। परिणमन दो प्रकार के होते हैं। कोई तो अनादि परिणमन और कोई सादि परिणमन। यद्यपि परिणमन कोई भी अनादि नहीं होता मगर ऐसा ही परिणमन चलता रहे ऐसी परम्परा देखकर अनादि परिणमन कहा जाता है जैसे लोक का आकार, मेरु का आकार, अकृत्रिम चैत्यालय अकृत्रिम प्रतिबिम्ब ये अनादि परिणमन हैं और आदि परिणमन दो प्रकार के होते हैं—(१) कोई प्रयोगिक और कोई (२) वैश्रसिक। जैसे चेतन द्रव्यों में औपशमिक आदिक भाव हुए वे कर्म के उपशम आदिक के निमित्त से हुए। सो हुए तो नैमित्तिक, मगर वे परिश्रम से नहीं हुए, प्रयत्न से नहीं हुए इसलिए वैश्रसिक कहलाते हैं। और अध्ययन करना, ध्यान करना, भावना करना ये पुरुष के प्रयोग से होते हैं इसलिए ये प्रायोगिक हैं, अर्थात अन्य गुरु आदिक के उपदेशों से प्रेरित होकर जीव करता है सो वह प्रायोगिक हैं। अचेतन में देखिये—घड़ा, सकोरा आदिक परिणमन तो प्रयोगिक हैं। कुम्हार आदिक पुरुष के प्रयोग के निमित्त से बनते हैं और आकाश में कभी इन्द्र धनुष हो गया आदिक जो नाना परिणमन हैं वे वैश्रसिक हैं याने किसी पुरुष ने वहाँ कोई प्रयत्न नहीं किया।

शंकाकार द्वारा परिणाम उपग्रह का प्रतिषेध—अब यहाँ एक शंकाकार शंका करता है कि परिणाम तो हो ही नहीं सकता। किसी का भी परिणमन नहीं है। कैसे जाना कि यह बतलाओ कि परिणमन जो आप मान रहे हो, बीज का अंकुर हो गया, यही तो परिणमन है, सो बतलाओ अंकुर में बीज है या नहीं। जो परिणमन हुआ है, बीज बोया, अंकुर हुआ तो अंकुर में बीज है कि नहीं ? यदि कहो कि अंकुर में बीज है तो बीज है तो अंकुर का अभाव हो गया। दो में कोई एक ही तो रहना चाहिये। यदि कहो कि अंकुर में बीज नहीं है तो बीज अंकुररूप से परिणमा नहीं, यह अर्थ हुआ उसका। एक मोटे रूप में समझिये। जैसे कहा कि दूध खट्टा हो गया तो खट्टा होने में दूध है कि नहीं ? है, तब कहते हैं कि दूध खट्टे रूप में परिणम गया। तो ऐसे ही बीज तो है नहीं, फिर कैसे कहा कि बीज अंकुर रूप परिणम गया ? क्योंकि जब अंकुर है तो उसमें बीज का स्वभाव न रहा इसलिए परिणमन कोई चीज नहीं सिद्ध होती। जो परिणमन बना याने अगली परिणति बनी उस परिणति में यह पूछा जाय कि पहली परिणति मौजूद है या नहीं। अगर मौजूद है तो परिणमन न हुआ, पूर्वपरिणाम वही परिणाम वहाँ मौजूद है, अगर कहो कि मौजूद नहीं हैं तो कैसे कहा जाय कि अमुक इस रूपपरिणम गया।

परिणाम की सिद्धि करते हुए उक्त शंका का समाधान—उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका युक्त यों नहीं है कि हम अंकुर में बीज को न तो सत् मानते हैं और न असत् मानते हैं किन्तु एक तीसरी ही बात है। यदि सर्वथा सत् हो तो सत् वाला दोष आवे, सर्वथा असत् हो तो असत्

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वाला दोष आवे। लेकिन किसी एकांत पक्ष को नहीं छू रही है वह घटना इसलिये सत् के एकांत का भी दोष नहीं, असत् के एकांत का भी दोष नहीं। वह तो एक तीसरी बात है और दोनों ही एकांत पक्ष भी नहीं। तो यहाँ शंकाकार कहता कि अगर न सत् है न असत् है याने सत् भी है और असत् भी है तो इसमें तो दोनों दोष आ गये। कोई अगर केवल सत् ही माने परिणाम में पूर्व की बात का तो एक ही दोष आता और असत् ही माने तो एक दोष आता, मगर जो दोनों रूप मान रहा, सत् असत् दोनों मान रहा उसके यहाँ तो दोनों ही दोष लग जायेंगे। उत्तर में कहते हैं कि नहीं, दोनों भी नहीं मान रहे, किंतु वे जात्यन्तर हैं। जैसे नरसिंह का रूप। शायद प्रह्लाद के समय की एक घटना में आया है कि देवता ने नरसिंह का रूप धारण किया था। तो वह नरसिंह क्या था ? याने न तो नर (मनुष्य) ही और न सिंह (पशु) ही। कोई तीसरी ही जाति का कुछ था। अब समझिये—जो धान्य का बीज है सो उस द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखें तो अंकुर में बीज है क्योंकि वही पुद्गल तो अब अंकुर रूप परिणमा है। बीज में जो पुद्गल था वह ही पुद्गल अंकुर रूप परिणमकर कुछ नये पुद्गल को ग्रहण कर अकुर बना है। तो द्रव्यार्थिक दृष्टि से अंकुर में बीज है। क्योंकि यदि उस अन्वय का उच्छेद कर दिया जाय याने जो पिण्ड बीज है, द्रव्य है, स्कंध है सो वह यदि बिल्कुल ही न रहा, किसी भी रूप से उसकी धारा ही मिट गई तो न वह अंकुर बनेगा न उसमें कोई फल भी लग सकेंगे। तो चूंकि उस धान्य के बीज से अंकुर बनकर धान्य के ही फल लगते हैं तो उस अन्वय परम्परा से देखें तो अंकुर में बीज है, पर पर्यायिक दृष्टि से देखें तो बीज तो बीज ही रूप होता है। वह अंकुर में नहीं है, क्योंकि बीज बीज ही है। बीज के परिणमन नहीं होते। तो पर्यायार्थिक दृष्टि से अंकुर में बीज नहीं है और इस तरह परिणमन सिद्ध हुआ याने द्रव्य वही रहा पर उसकी शकल बदल गई इसलिये उस द्रव्य का परिणाम कहलायगा, और यह परिणाम कालद्रव्य का उपकार है, जैसे कोई चावल आधा घन्टे तक पके तो आधे घन्टे का समय गुजरे बिना पक नहीं सकते थे। तो यही तो काल का उपकार है। सो समय बीत रहा और परिणमन चल रहे हैं।

परिणाम प्रतिषेध का प्रतिषेध सिद्ध करते हुए शंका का समाधान—यहाँ सत्त्व और असत्त्व ऐसे दो विकल्प करके परिणाम का निषेध कर रहा था शंकाकार कि अंकुर में बीज है तो परिणमन क्या। अंकुर में बीज नहीं तो परिणमन किसका ? सो परिणमन नहीं है। ऐसे सत्त्व असत्व के विकल्प से परिणाम का निषेध करने वाला शंकाकार पूछने योग्य है कि तुम जो निषेध कर रहे हो परिणमन का सो सत् परिणाम का निषध कर रहे हो या असत् परिणाम का निषेध कर रहे ? यदि सत् मौजूद परिणमन का निषेध करते हो तो वह मौजूद है। निषेध कैसे कर सकते ? और अगर असत् परिणमन का निषेध कर रहे तो जो है हो नहीं तो निषेध किसका करते ? यदि सत् परिणाम का निषेध किया जा सकता होता तो परिणाम प्रतिषेध भी प्रतिषेध हो जाता, क्योंकि सत् का तो निषेध करते तो शंकाकार का परिणाम प्रतिषेध भी सत् है तो वह भी खतम हो गया इस लिए परिणाम का निषेध नहीं किया जा सकता। यदि असत् परिणाम का निषेध करते तो खरविषाण की तरह जब वह है ही नहीं तो प्रतिषेध हो ही नहीं सकता।

कालद्रव्य के उपकारभूत परिणाम उपग्रह का साधक उपसंहार—वास्तविकता यह है कि जिसके परिणमन नहीं है वह वक्तापने रूप से भी प्रकट नहीं होता। उसके वाच्य रूप से भी परिणमन न होगा। उस शब्द का वाचक रूप से भी परिणमन न होगा, तो आप कुछ बोल ही नहीं सकते।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वक्ता, वाच्य और वचन इन सबका अभाव होने का प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता और परिणाम तो पदार्थों में स्पष्ट नजर आ रहा है कि यह बदलता गया है, तो ऐसा यह परिणाम रूप उपग्रह काल द्रव्य का उपकार है मायने कालद्रव्य का निमित्त पाकर हुआ है।

बीज और अंकुर में भेद व अभेद का प्रश्न करके शंकाकार द्वारा परिणाम का अभाव सिद्ध करने का प्रयास व उसका समाधान—वस्तु के परिणाम के विषय में यहाँ चर्चा चल रही है। शंकाकार कहता है कि वस्तु का परिणमन होता ही नहीं है। परिणाम (परिणमन) कोई चीज नहीं है, क्योंकि अगर परिणाम कोई चीज हो तो बतलाओ जैसे कहते कि बीज से अंकुर का परिणमन हुआ तो वह अंकुर परिणमन बीज से भिन्न है या अभिन्न ? यदि कहो कि बीज से अंकुर भिन्न है तो बीज का परिणाम तो न कहलाया इसका। क्योंकि बीज से अंकुर भिन्न ही है जैसे भींट और किवाड़ ये भिन्न हैं तो भींट का परिणाम किवाड़ तो नहीं कहलाया। दोनों ही स्वतन्त्र हैं। तो ऐसे ही यदि अंकुर बीज से भिन्न है तो बस बीज का परिमाण न कहलायगा। यदि कहो कि अंकुर बीज से अभिन्न है तो मायने बीज ही कहलाया, फिह अंकुर ही कुछ न रहा, क्योंकि अंकुर को बीज से अनन्य बतलाया, याने अन्य नहीं है, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका युक्त नहीं है कारण कि अंकुर से बीज न तो भिन्न है, न अभिन्न है, किंतु एक तीसरी ही बात है। क्या है वह निर्णय कि कथञ्चित अंकुर बीज से भिन्न है, कथञ्चित अंकुर बीज से अभिन्न है। जैसे अंकुर उत्पन्न होने से पहले बीज में अंकुर पर्याय न थी। पीछे हुई है तो इस पर्यायार्थिक दृष्टि से अंकुर बीज से अन्य हो गया। धान्य के बीज की जाति से विशिष्ट ही है वह अंकुर, उससे कहीं अन्य नहीं है अंकुर, तो धान्य के बीज की जाति स्वरूप द्रव्यार्थिक दृष्टि से अंकुर बीज से अनन्य है। और ऐसा विकल्प करके तो कोई कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता। कोई पूछ डाले कि बताओ प्राण जीव से अन्य है या अनन्य है? अब यदि प्राण का जीव से अन्य बताये, याने भिन्न हैं, अलग हैं तो प्राण का नाश कर डाले कोई जीव का तो कुछ नहीं बिगड़ता क्योंकि जीव जुदा है, प्राण जुदे हैं और यदि कहो कि प्राण जीव से अनन्य हैं, एकमेक हैं तो भी मार डाले कोई क्योंकि जीव तो अमर है, प्राण भी अमर रहेंगे। तो उसके बाद यह ही बनेगा कि प्राण जीव से कथञ्चित अनन्य हैं, कथञ्चित अन्य हैं और उसकी दृष्टि है द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। तो ऐसे ही बीज से अंकुर पर्यायदृष्टि से अन्य है और द्रव्यार्थिक दृष्टि से अनन्य है।

बीज में अंकुर की व्यवस्थितता व अव्यवस्थितता का प्रश्न करके शंकाकार द्वारा परिणाम का अभाव सिद्ध करने का प्रयास व उसका समाधान—अब शंकाकार कहता है कि अच्छा यह बताओ कि बीज अंकुर रूप से परिणम गया तो अंकुरत्व रूप से परिणमे हुये अंकुर में बीज व्यवस्थित है या नहीं ? यदि अंकुरत्वरूप से परिणमे हुए अंकुर में बीज व्यवस्थित है तो जब बीज वहाँ व्यवस्थित है, पक्का है, सही है। तो बीज का और अंकुर का विरोध है, वह पूर्वापर चीज है, तो वहाँ अंकुर नहीं रह सकता। यदि कहो कि अंकुरपने से परिणमे हुए अंकुर में बीज अव्यवस्थित है, नहीं है, कोई व्यवस्था नहीं है तो इसके मायने यह हुआ कि बीज अंकुर रूप से परिणमा नहीं, तो दोनो ही बातों में जब दोष आ रहे हैं तो परिणाम, परिणमन, पर्याय कोई चीज न रही। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शका भी संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ भी अनेकांत से निर्णय है। जैसे एक मनुष्य का उदाहरण लीजिये। जब मनुष्य आयु कर्म का और नामकर्म का उदय है और अंगोपांग

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर्याय को वह प्राप्त है तो उस समय एक अंगुली जो उपांग है उस रूप आत्मा परिणमा ना ? अचेतन की दृष्टि से देखें तो पुद्गल परिणमे, पर प्रदेश रचना की दृष्टि से देखें तो आत्मा के प्रदेश सर्वअंगोपांग में है, अब उस प्रदेश की दृष्टि से देखें तो अंगुली जीव है। इससे क्या समझा कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यह अंगुली आत्मा संकोच और विस्तार पर्याय को पाता हुआ जैसे बचपन में अंगुली छोटी थी, अब बढ़ती जा रही तो अंगुली संकोच विस्तार को प्राप्त होता हुआ वह अंगुली जीव है उस समय वह अनादि पारिणमिक चैतन्यद्रव्य की दृष्टि से सत् है और पुद्गल पर्याय की दृष्टि से देखें तो पौद्गलिक जो खाल है उस रूप से अवस्थित जो अंगुली उपांग है उस पर्याय की दृष्टि से भी सत् है और इससे ही सिद्ध है कि वह अनन्य है, अलग नहीं है। अब दूसरे पक्ष की बात देखिये —कि किस ढंग से यह अंगुली आत्मा से अलग है ? जो इसमें संकोच विस्तार की पर्याय की दृष्टि से जचा उस दृष्टि से यह असत् है इससे सिद्ध हुआ कि कथञ्चित भिन्न है। इसी प्रकार बीज और अंकुर में देखिये एकेन्द्रिय वनस्पति नाम कर्म का उदय है और उस ही प्रकार के तिर्यञ्च आयु का उदय है उससे बीज पर्याय से जो परिणाम हुआ है वह जीव ही तो है। कंकड़ तो नहीं। सो वह बीज परिणाम से याने उस अंकुर से अभिन्न है और वहाँ देखा जा रहा है अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्य और इस प्रकार पौद्गलिक दृष्टि से भी देखें तो पौद्गलिक जो धान्य का बीज है सो उसमें जो एक इन्द्रिय का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पर्याय की दृष्टि से देखें तो वहाँ भी दोनों अभिन्न हैं। वही बात बीज में है वही अंकुर में, इसलिए तो अनन्य हो गया और जब केवल पर्यायदृष्टि से देखें तो धान्य का जो बीज है वह उसी पर्यायरूप है और अंकुर है वह अन्य पर्यायरूप है इस कारण से वह भिन्न हो गया। इस कारण यह दोष नहीं दे सकते कि बीज से अंकुर भिन्न है तो परिणाम नहीं, अभिन्न है तो परिणाम नहीं। अनेकांत से कथञ्चित व्यवस्थित है और कथञ्चित अव्यवस्थित है।

अंकुर में वृद्धि होने से उसे बीज का परिणाम कहने की अशक्यता की एक शंका—अब शंकाकार कहता है कि परिणाम कोई चीज नहीं है। वस्तु की बदल पर्याय कोई चीज नहीं है, क्योंकि अगर परिणाम है बीज का वह, तो उसकी वृद्धि न होना चाहिये। जैसे कि दूध का परिणाम दही है तो दही कहीं चौगुना अठ गुना बढ़ तो नहीं जाता। तो ऐसे ही बीज अगर अंकुर रूप से परिणमे तो अंकुर बीज मात्र ही रहेगा। उसी वृद्धि न होना चाहिए। अनेक दृष्टांत हैं ऐसे चीज परिणमती है तो उसका रूप रंग बदलता है। वस्तु उतना ही रहता है। यदि कहा जाय कि पृथ्वी पानी के, रस के सम्बन्ध से वह अंकुर बढ़ जाता है तो अगर अंकुर बढ़ गया तो वह बीज का परिणमन तो न रहा। बीज का परिणमन तो वह कहलाया कि जो बीज बराबर हो और ढंग दूसरा हो जाय। जैसे बीज सड़ गया तो वह है बीज का परिणमन, पर अंकुर बन जाय तो वह तो बीज का परिणमन नहीं है। इसलिए परिणाम कोई चीज नहीं। यदि कोई कहे कि जब खाद और पृथ्वी और जल रस आदिक अन्य द्रव्य का संचय हो गया तो उस संचय होने से बढ़ना ही चाहिये। तो यह शंका भी युक्त नहीं है, क्योंकि अगर अन्य द्रव्य के संयोग होने पर बढ़ा तो उन द्रव्यों का संयोग कहलाया, किंतु बीज का परिणाम तो न कहलाया। जो बढ़े, जो चीज मिले वह उनका संचय कहलाया। यदि कहो कि बाहरी पदार्थों में संयोग से बढ़-बढ़कर वे सब बढ़ जाते हैं तो यह ही तो उल्टी बात है। अगर अने द्रव्यों का संयोग हो जाय तो वह चीज तो मिट जायगी। बढ़ने की बात

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो दूर रही। जैसे पेड़ में अगर लाख का संयोग हो गया तो पेड़ सूख जायगा। ठूठ रह जायगा, दुर्बल रह जायगा। तो अन्य द्रव्यों के संयोग से बढ़ना नहीं होता बल्कि घटना होती है। अब अंकुर बीज परिणाम न रहा, पर्याय न रहा।

अनन्तर क्षण की परिणति को पूर्व की बदल सिद्ध करते हुए उक्त शंका का समाधान— अब उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि परिणाम है और उसमें जो वृद्धि है वह अन्य कारण से है। इतना तो शंकाकार ने मान लिया यह कह कर कि अंकुर बीज मात्र होना चाहिये। तो परिणाम तो मान लिया दृष्टांत देकर भी मान लिया कि जैसे दूध का परिणाम दही हो, तो बढ़ा तो नहीं तो परिणाम तो मान लिया, सो परिणाम का निषेध तो न कर सके। रही वृद्धि के अभाव के प्रसंग की बात सो उसकी वृद्धि अन्य कारणों से है। जैसे मनुष्य को ही देख लो। जो छोटा बालक उत्पन्न हुआ तो मनुष्यायु कर्म के उदय से और मनुष्य गति आदिक नाम कर्म के उदय से बालक उत्पन्न हुआ तो बालक कितना सा छोटा, अब उसको बाह्य कारण मिलते हैं दुग्धपान आदिक अच्छे मक्खन आदिक के आहार और भीतर में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम चल रहा जिससे जठराग्नि उसकी युक्त चल रही है और निर्माण नामक कर्म का उदय साथ है ही तो उससे वह बच्चा बढ़ता जाता है। बड़ा हो जाता है। तो परिणाम बना कि नहीं बना। तो यही बात बीज और अंकुर में है। वनस्पति नामक आयु कर्म का या नाम कर्म का उदय है तो वह बीज रूप बना। वह जीव अंकुर हो गया आयु कर्म यद्यपि चार कहा पर चार ही न जानें। जैसे तिर्यञ्चायु कहा तो मूल तो हो गई तिर्यञ्चायु, पर जितनी तरह के तिर्यञ्च हैं उतनी तरह के आयु कर्म हैं। ऐसी ही नाम कर्म की बात है, तो वह एक जीव बीज बन गया बीज के आधार से जीव अंकुर पर्याय में उस भव वाला बन गया। अब अंकुर बना तो उस समय जो बीज का परिणाम हुआ वह तो छोटी शकल में हुआ मगर उसे पानी, हवा, पृथ्वी, रस, खाद आदिक मिलने से और भीतर में उसके जीव के वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होने से और अपने अनुरूप निर्माण नाम कर्म का उदय होने से अब वह अंकुर बढ़ जाता है। तो बढ़ने का तो यह कारण है, पर अंकुर परिणाम है बीज का, यह तो मान ही लिया। यहाँ काल द्रव्य के उपकार में वर्तना का वर्णन किया गया था। अब परिणाम का वर्णन चल रहा है। तो शंकाकार यह सिद्ध कर रहा कि परिणाम तो कुछ है ही नहीं, उसी के उत्तर में यह बात कही जा रही है कि शंकाकार का जो यह कहना है दूध का परिणाम दही हुआ तो वह कहीं वह डाल की तरह तो नहीं बढ़ जाता। परिणाम हो गया तो बीज का परिणाम अंकुर हुआ है तो उसे भी बढ़ना न चाहिए। तो उत्तर यह दिया कि परिणाम तो उस समय की बात है जब बीज में अंकुर रूप बात हुई। अब उसकी बढ़वारी का कारण अन्य चीज है।

सर्वथा क्षणिकैकान्तवाद में बदल की असम्भवता— प्रकृत बात यह है कि जो शंकाकार स्याद्वादियों पर दोष मढ़ रहे थे कि यदि अंकुर बीज का परिणाम है तो उसे बढ़ना न चाहिये, और चूँकि वह बढ़ता है इसलिये वह परिणाम नहीं है। तो यह दोष तो एकांतवादियों को लगेगा, स्याद्वादियों को नहीं लगता। कैसे कि अगर नित्यता का एकान्त कर लिया तो वहाँ तो परिणमन होता ही नहीं क्योंकि कुछ विकार नहीं हुआ। कुछ परिणमन न होना, ज्यों का त्यों कूटस्थ रहना यह ही तो नित्य एकान्त है। तो जो नित्य एकान्त मानते उनके यहाँ वृद्धि

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं हो सकती, और जो क्षणिक एकान्त मानते उनके यहाँ भी वृद्धि नहीं हो सकती। वह पदार्थ तो क्षण भर भी न रहा और जन्मा ही जन्मा और नष्ट हो गया। जब अनेक समय रहे तब तो कहा जायगा कि यह वृद्धि को प्राप्त हुआ और फिर क्षणिक एकान्त में तो सभी चीजें क्षणिक हैं जो खाद डाला वह भी क्षणिक, जो पानी डाला वह भी क्षणिक। वह चीज ही नहीं रहती। जो अंकुर है वह भी क्षणिक। तो उनका जब विनाश ही हो गया दूसरे समय में तो वृद्धि कैसे कहेंगे ? इससे क्षणिक वाद में या एकान्त वाद में यह दोष आता है कि बीज का परिणाम अंकुर है तो वह बढ़ नहीं सकता, पर स्याद्वाद में यह दोष सम्भव नहीं है।

सर्वथा क्षणिक वाद में प्रबन्ध सिद्धान्त से भी बदल की सिद्धि की अशक्यता—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि यद्यपि पदार्थ सब क्षणिक हैं मगर उनकी वृद्धि हो सकती है, वह कैसे ? क्षणिकवाद में तीन तरह के प्रबन्ध माने हैं। (१) सभाग रूप, (२) क्रमापेक्ष और, (३) अनियत। सभाग रूप का अर्थ है सदृशता वाला। जैसे दीपक से दीपक पैदा होते जा रहे तो वे सदृश हैं, वे बढ़ते जा रहे कह सकते हैं या जैसे किसी स्रोत से स्रोत चला आ रहा है तो वह सदृश है ना, बाती भी समान, दीपक की ज्योति भी समान, तो जो समान रूप प्रबन्ध है, बढ़ रहा है, जैसे बिजली जली और एक घण्टे तक जल रही है तो जो एक घण्टे तक बढ़ी वह सभाग रूप प्रबन्ध है। क्रमापेक्ष प्रबन्ध वह कहलाता जैसे कोई मनुष्य बच्चा है, फिर कुमार बना, फिर जवान बना तो यह क्रमापेक्ष प्रबन्ध है। तो बीज और अंकुर का भी क्रमापेक्ष प्रबन्ध है। बीज था अंकुर हुआ, अब जवान हुआ अर्थात पेड़ बन गया तो यह उसमें क्रमापेक्ष प्रबन्ध है। तीसरा प्रबन्ध होता है अनियत। जैसे मेघ में इन्द्र धनुष की रचना हुई, अनेक वर्ण उसमें बंधे हुये हैं तो यह अनियत प्रबन्ध है। तो इन प्रबन्धों की वजह से वृद्धि होती रहती है। तो अंकुर में जो वृद्धि जच रही है वह क्रमापेक्ष प्रबन्ध से जच रही है। स्याद्वादी यहाँ उत्तर देता है कि क्षणिकवादियों का यह कहना शोभा नहीं देता क्योंकि ये बतायें कि जिनका प्रबन्ध बना रहे, तीन प्रकार का बनावें या कितने ही प्रकार का प्रबन्ध वे सत् पदार्थों में बना रहे कि असत् पदार्थों में बना रहे ? या सत् असत् दोनों प्रकार के पदार्थों में बना रहे ? असत् में तो प्रबन्ध बनता नहीं। जैसे कि बंध्या का पुत्र, अब उसमें क्या प्रबन्ध बनता ? और एक सत् हो एक असत् हो उसमें भी प्रबन्ध नहीं बनता। जैसे गधा और गधे का सींग। गधा तो है पर खरविषाण नही है तो उन दोनों में भी क्या प्रबन्ध बनेगा ? और अगर कहो कि सत् में प्रबन्ध बनता है तो एक क्षण को अगर सत् रहे तो उसमें क्या प्रबन्ध, कौन बढ़ा, क्या हुआ ? और अगर अस्तित्व रहता है तो क्षणिक न रहा, इस कारण एकान्तवाद में तो यह दोष आता है कि परिणाम में वृद्धि न होना चाहिये, किन्तु स्याद्वाद में यह दोष नही है।

सर्वथा नित्यैकान्तवाद में भी परिणाम की सिद्धि की अशक्यता—अब एक एकान्तवादी यह प्रश्न रख रहा या अपना सिद्धान्त रख रहा कि ध्रौव्य एकान्त में तो परिणाम बन सकता है। जैसे कि अभी क्षणिकवादियों में किसी भी तरह वृद्धि सिद्ध करना चाहा था तीन तरह के प्रबन्ध बताकर, तो अब दूसरा नित्य एकान्तवादी भी अपनी बात रख रहा है कि पदार्थ तो नित्य व्यवस्थित है। अब द्रव्य में अन्य धर्म दूर हो गये और अन्य धर्म आ गये इसी के मायने परिणाम है। वस्तु तो ध्रुव है, कूटस्थ है, नित्य है, उस वस्तु में अन्य धर्म के आने का नाम परिणाम है। एक धर्म हट गया दूसरा धर्म आ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया, उसी को परिणाम कहते हैं। वस्तु वही है, वस्तु अवस्थित है, ध्रौव्य है। जो है सो है। जैसे दूध से दही बना तो अब उस रस में, पुद्गल में दूध का धर्म तो दूर हो गया और दही का धर्म आ गया तो परिणाम कहलाने लगा। नित्य एकान्त में परिणाम बन गया। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि नित्य एकान्त में परिणाम नहीं बनता। जिसका परिणाम होवे फिर वह पदार्थ सर्वथा अवस्थित तो न रहा। जिसमें बदल आ रही है वह वस्तु सर्वथा ध्रुव न रही, और अगर कोई द्रव्य है उनसे अलग, धर्म से अलग, जिन धर्मों के दूर होने से और जिस धर्म के आने से परिणाम बताते हो उन धर्मों से अलग द्रव्य रहा तो गुणों के समुदाय से अलग कहलाया फिर वह द्रव्य, फिर इसको शंकाकार ने यह बताया था कि गुण के समुदाय को द्रव्य कहते हैं, फिर उनका यह कथन गलत हो जाता, और फिर यह बतलाओ कि उस द्रव्य में से जो धर्म दूर हुआ और जो धर्म आ गया और जो बना रहा, ये जो तीन बातें हैं ये गुण समुदाय रूप हैं या उससे भिन्न हैं। यदि कहो कि गुण समुदाय रूप हैं तो वही पहिले था वही पीछे रहा ज्यों का त्यों ही रहा फिर कौन किसका परिणाम कहलायेगा, न्याय तो यह कहता है कि निवृत्त तो अन्य होना चाहिये, अवस्थित अन्य होना चाहिये और उत्पन्न कुछ अन्य होना चाहिये। यदि कहा जाये कि निवृत्त होने वाला व उत्पन्न होने वाला तत्त्व गुण समुदाय से भिन्न कुछ अन्य हैं तो "गुण समुदाय मात्र द्रव्य है" इस प्रतिज्ञा की हानि हो जायेगी। बात यह है किसी एकान्त में परिणाम नहीं बन सकता है, ध्रौव्यैकान्त में कोई धर्म निवृत्त होवे कोई उत्पन्न होवे यह कैसे बन सकता है। अच्छा गुण समुदाय को द्रव्य कहने वाले एकान्तवादी यह बतायें कि समुदाय गुणों से अन्य है या अनन्य है? यदि अनन्य हैं तो गुण ही है ऐसी समुदाय कल्पना न बनेगी गुणों के अभाव से गुणों का भी अभाव हो जायेगा। यदि गुण समुदाय से अन्य है तो गुण समुदाय द्रव्य है यह संगत न रहा फिर परिणाम कैसे सिद्ध होगा।

किसी एकान्त हठ में परिणाम की सिद्धि न होकर स्याद्वाद सिद्धान्त में परिणाम की सिद्धि की संभवता—किसी भी एकान्तवाद में परिणाम नहीं बन सकता, क्योंकि परिणमन नाम है पूर्व परिणमन की निवृत्ति हो, कोई नये परिणमन का आविर्भाव हो तो परिणमन कहलाता। यह न रहा अब यह हो गया, ऐसा जहाँ ज्ञात हो उसे परिणमन कहते हैं। तो जो नित्य एकान्त वाले हैं उनमें तो परिणमन माना ही नहीं और जो क्षणिक एकान्त वाले हैं उनका जब पदार्थ दूसरे क्षण ठहरता ही नहीं तो परिणमन कैसे कहलायेगा, दो क्षण ठहरे हुये बिना परिणमन नहीं बन सकता, इसी प्रकार अन्य भी एकान्त जैसे ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत आदिक जो अद्वैत एकान्त हैं उनमें परिणमन नहीं बन सकता, वे केवल एक परमब्रह्म को ही मानते हैं और वह अद्वैत हैं मायने वही मात्र एक है और परिणमन हो जायगा तो दो दिखने लगेंगे। यह कुछ और तरह था, अब यह कुछ और तरह है। तो अद्वैत एकान्त में भी परिणमन नहीं बन सकता और कोई प्रत्येक पर्याय को भिन्न भिन्न ही द्रव्य मान ले, नाना मान ले तो भी परिणमन नहीं बन सकता। परिणमन तो जो सदा रहता है और उसमें समय समय पर अवस्थायें नई बनती हैं उसे परिणाम कहते हैं। सो द्रव्यार्थिकनय से तो अन्य भाव बनता नहीं मायने वही एक वस्तु है और पर्यायार्थिकनय से भी अन्य अन्य जीव दिख रहे हैं सो जो वस्तु नित्य हो और पर्याय दृष्टि से अनित्य हो वहाँ परिणमन बनता है। सो यह परिणाम काल द्रव्य का उपकार है। काल द्रव्य का प्रतिक्षण में एक एक समय रूप वर्तना होती रहती है और उनके समुदाय रूप व्यवहार काल गुजरता है तो परिणमन नजर आता है। एक समय की वर्तना में परि-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

णमन नहीं कहा जा सकता, वह तो उस समय जो है सो ही है। परिणमन तो तब कहा जायेगा जब कि पूर्व समय में कुछ और अगले समय में कुछ और हुआ। तो परिणमन अनेक समयों में ही बनते हैं।

काल द्रव्य का उपकार क्रिया उपग्रह—अब परिणाम के बाद क्रिया के विषय में बात करते हैं। काल द्रव्य का उपकार क्रिया उपग्रह है। क्रिया मायने क्या है कि अन्तरंग और बाह्य कारण के वश से जो परिस्पंदात्मक स्थिति होती है उसको क्रिया कहते हैं। हलन चलन यह सब क्रिया कहलाती है। क्रिया गुण तो स्वभाव से ही होता है। कोई किसी के प्रयोग से होता है। जैसे गाड़ी चल रही है तो यह प्रयोग से क्रिया हो रही। चाहे वहाँ गाड़ी का प्रयोग हो या यन्त्रों का प्रयोग हो, और मेघ आदिक जो चलते हैं उनकी क्रिया प्रयोग बिना है। भले ही उनमें हवा का निमित्त है मगर बुद्धिमान कोई प्रयोग नहीं कर रहा है, अतएव मेघादिक की क्रिया विश्रसा निमित्तक क्रिया है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि परिणाम में भी परिणमन हुआ है और क्रिया में भी परिणमन हुआ है, फिर परिणाम को और क्रिया को अलग-अलग क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि यहाँ परिणाम का अर्थ तो अपरिस्पंद वाली क्रिया है याने पदार्थ जहाँ है वहाँ ही ठहरा है, उसको हलन चलन की दृष्टि से नहीं निरखना है, किन्तु पूर्व पर्याय का त्याग किया, उत्तर पर्याय का उत्पाद हुआ, इस तरह से देखें तो परिणाम तो अपरिस्पंद रूप है, किन्तु क्रिया परिस्पंद रूप है। एक देश से दूसरे देश में पहुँचाने का नाम क्रिया है। तो ये दो प्रकार के भाव हैं जुदे-जुदे। परिस्पंदात्मक और अपरिस्पंदात्मक। जो परिस्पंद रूप क्रिया है वह तो क्रिया है और जो अपरिस्पंद रूप है वह परिणाम है। ऐसा परिणाम और क्रिया में अन्तर समझना। जैसे व्यवहार काल हुये बिना परिणाम नहीं होता है ऐसे ही व्यवहार काल हुये बिना क्रिया भी नहीं होगी, अथवा कोई एक समय की क्रिया होती है, सिद्ध जीव एक समय में सात राजू पहुँचा है और परमाणु में १४ राजू तक गमन करने की भी क्रिया होती है। तो परिस्पंद तो क्रिया है और वहीं की वहीं अवस्थित रहते हुये बदलने का नाम परिणाम है।

काल द्रव्य का उपकार परत्व व अपरत्व उपग्रह—अब क्रिया के बाद परत्व अपरत्व देखिये। परत्व मायने जेठा, अपरत्व मायने लहुरा। परत्व, अपरत्व कई दृष्टियों से अनेक प्रकार हैं, किन्तु यहाँ काल दृष्टि का परत्व अपरत्व लेना। जैसे परत्व और अपरत्व जिसे ठेठ भाषा में बोलते परे और उरे, तो यह क्षेत्र सम्बन्धी बना। जो आकाश प्रदेश से बहुत दूर हो सो पर और पास हो सो अपर। एक ही दिशा में बहुत से आकाश प्रदेशों को व्यतीत कर जो दूर पहुँचा है वह पर है और जो थोड़े प्रदेशों को व्यतीत कर रहा है सो अपर है। पर अपर प्रशंसा अर्थ में भी आता। जैसे धर्म 'पर' है, उत्कृष्ट है क्योंकि उसमें अहिंसा आदिक अनेक गुण हैं और अधर्म अपर है, जघन्य है। कहीं काल हेतुक भी पर अपर होता और १०० वर्ष की आयु का हो वह पर है, जो २० वर्ष की आयु का हो वह उसके आगे अपर है। जेठा और लहुरा, तो यहाँ काल के प्रकरण में कालकृत पर अपर जानना। और इस काल दृष्टि से एक पुरुष मुनि है और छोटी उमर का है और एक अव्रती वृद्ध पुरुष बैठा है तो काल की अपेक्षा उस अव्रती पुरुष को पर कहेंगे, और उस मुनि को अपर कहेंगे। तो यहाँ जो परत्व अपरत्व बताया है वह कालकृत बताया है, ऐसे परत्व, अपरत्व भी काल द्रव्य के उपकार हैं।

काल द्रव्य की वर्तना भी काल द्रव्य का उपकार—यहाँ एक जिज्ञासा होती कि सब तो काल द्रव्य के उपकार हैं, पर काल द्रव्य का भी उपकार करने वाला कोई जरूर होगा। काल द्रव्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में परिणमन कौन करने आयेगा ? अन्य द्रव्यों के परिणमन में काल को निमित्त कहा है तो काल द्रव्य के परिणमन में कौन निमित्त होगा ? उत्तर यह है कि चूंकि परिणमन में निमित्त काल द्रव्य होता है सो वही काल अपने परिणमन में भी निमित्त है और अन्य के परिणमन में भी निमित्त है। नहीं तो ऐसे ही और भी प्रश्न हो सकते। आकाश तो दूसरों को अवगाह देने में निमित्त है। तो आकाश को अवगाह देने में कौन निमित्त है ? आकाश खुद निमित्त है। आकाश अपना अवगाह भी किये है और पर पदार्थों का भी अवगाह करना है।

वर्तना की एकसमय रूपता व कालभेद रहितता—एक बात यहाँ यह भी समझना कि सूत्र में जो वर्तना शब्द कहा है उससे ही सारा अर्थ आ जाता, पर परिणाम क्रिया वगैरह कहने की क्या जरूरत थी ? कह देते कि काल द्रव्य का उपकार वर्तना है, परन्तु इन सबके कहने का प्रयोजन यह निकला कि परिणाम परत्व अपरत्व ये परिणमन तो सब द्रव्यों में पाये जायेंगे और काल द्रव्य में वर्तना लक्षण है। तब ही कहते हैं कि जिसका वर्तना लक्षण है उसे निश्चय काल कहते हैं। काल दो प्रकार का होता है। (१) परमार्थ काल और, (२) व्यवहार काल। तो परमार्थ काल तो काल द्रव्य है जो कि लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक-एक काल द्रव्य ठहरा हुआ है। और वह वर्तना का उपकारक है। वह समस्त काल द्रव्य अवयव रहित है अर्थात् एक प्रदेशी ही है। जो अनेक प्रदेशी होगा उसमें अवयव की कल्पना हो जायेगी। यह भाग इधर है, यह भाग उधर है, ऐसा काल द्रव्य एक प्रदेश है इस कारण उसमें अवयव की कल्पना नहीं होती। तो जब अनेक प्रदेश नहीं होते तो काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं कह सकते। यह काल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है इस कारण अमूर्त है। यह काल द्रव्य अपनी ही जगह पर स्थित है, दूसरे प्रदेश पर नहीं पहुँच सकता इस कारण निष्क्रिय है और व्यवहार काल परिणाम क्रिया परत्व अपरत्व इस रूप है। कई समयों का परिणमन जाना जाये वह व्यवहार काल से ही जाना जाता है। काल तीन प्रकार का कहा गया है। जैसे तीनों काल परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे कोई पुरुष किसी मार्ग से जा रहा है और मार्ग पर अनेक द्रव्य हैं, तो अनेक द्रव्य गुजर गये तो वे भूत हो गये और अनेक द्रव्य अभी आयेंगे वे भविष्य हो गये, और जिस वृक्ष की छाया में मौजूद है वह उसकी वर्तमान गति हो गई। तो उसमें जैसे यह व्यपदेश होता है कि इतने वृक्ष पा चुके अभी इतने वृक्ष पायेंगे। अब पाया और पायेंगे, इन दोनों के बीच में जो है वह वर्तमान कहलाता है। तो यह व्यवहार भूत, भविष्य, वर्तमान यह व्यवहार काल में तो मुख्य है और परमार्थ काल में गौण है याने काल द्रव्य के सम्बन्ध में भूत भविष्य की पर्यायें कुछ नहीं देखी जा रहीं। वहां तो प्रथम वर्तना मात्र लक्षण परखा जाता है। अब फिर भी इनमें परस्पर अपेक्षा बतलाते हैं कि जो द्रव्य क्रिया परिणत काल परमाणु को प्राप्त होता है अर्थात समय को प्राप्त होता है वह द्रव्य उस काल से वर्तमान समय वाली वर्तना से सहित है और जितने को पा चुका वह भूत है और जितनी वर्तनाओं को पायेगा वह भविष्य है, तो ऐसे ही घड़ी घण्टा, दिन, वर्ष आदिक भी लगाया जा सकता है।

क्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी काल द्रव्यपने की असिद्धि की शंका—यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि काल तो क्रियामात्र का नाम कहा जायेगा, अलग कोई द्रव्य नहीं प्रतीत होता। एक परमार्थ परमाणु मन्द गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर पहुँचे उसे एक समय कहेंगे। इसमें काल द्रव्य की क्या जरूरत है और उसके आगे फिर व्यवहार काल बन जायेगा। तो सारा यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

काल का व्यवहार क्रियाकृत है। जो भी समय नाम का परिणमन वर्तना कहा है सो परमाणु के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जो समय गुजरा वह है समय, पर कोई काल द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। समय जाना गया, अब उन समयों का जो समूह होगा वह आवली हो गया और आवलियों का समूह उच्छ्वास हो गया, इस तरह बढ़ाते जाइये तो घण्टा, दिन, महीना, वर्ष, युग यों सब बढ़ाते चले जाओ। तो क्रिया ही काल रही, काल द्रव्य नामक द्रव्य कुछ अलग न रहा, और लोग बोलते ही हैं—जैसे गाय दुहने के समय आप आ जाना या नास्ता के समय आप आ जाना, ऐसा कहा, तो लोग जानते हैं कि कोई एक घण्टा दिन चढ़े नास्ता का समय कहलाता, या सवेरा होते ही गाय दुहने का समय आ जाता, सो वह उस समय पहुँच जाता, तो क्रिया में भी काल का व्यवहार देखा जाता है।

क्रियामात्र को काल मानने पर अनेक आपत्ति प्रसंग बताते हुये उक्त शंका का समाधान—उक्त शंका का उत्तर यह है कि परिणमन रूप एक समय के अभाव में इन सब में काल का व्यपदेश नहीं हो सकता है। हाँ व्यवहार तो क्रियाकृत है। जैसे लोग कहते हैं कि यह कार्य मुहूर्त भर में कर लिया तो व्यवहार तो हो गया क्रिया के द्वारा, मगर उस परिणमन में उस सत्ता की अनुभूति में जो समय गुजरा उस समय को किसकी पर्याय कहेंगे। दूसरी बात यह है कि अगर वास्तव में काल कोई मुख्य न होवे तो उपचार से या अन्य किसी से काल शब्द का नाम ही न बोला जा सकेगा। जैसे कहा कि देवदत्त छत्री है मायने छतरी लिये हुये है तो इससे ही तो सिद्ध हो गया कि छतरी का सम्बन्ध है, उसमें तो ऐसे ही किसी भी चीज में सम्बन्ध का जोर लेते हैं तो समय नाम की कोई चीज सिद्ध तो हो जाती है अन्यथा काल का व्यवहार ही न हो सकेगा। अब यह देखिये कि जिसका मत है कि क्रियामात्र को ही काल कहते हैं, और वर्तना में लक्षण वाला काल कुछ नहीं है तो उसके यहाँ वर्तमान काल बन ही नहीं सकता। कैसे ? जैसे कपड़ा बुना जा रहा है तो जितना सूत बाना बन चुका वह तो अतीत हुआ, जितना सूत आगे आयेगा वह भविष्य हुआ, अब वर्तमान क्या रहा ? यदि क्रिया मात्र को काल कहते हैं तो। क्रिया में इतना गुजरा, इतना गुजरेगा, ये दो भाग होते हैं। क्रिया स्थिर चीज तो है नहीं जो एक वर्तमान का संकेत कर सके। तो जितना बुना गया वह तो अतिक्रान्त है, जितना बुना जायेगा वह आगामी है। अब वह कौन सी क्रिया है जो न अतिक्रान्त है और न आगामी वाली है, जिसको कि वर्तमान शब्द से कह सकें। तो वर्तमान तो न बना, और वर्तमान जब न बना तो वर्तमान की अपेक्षा से ही अतीत और भविष्य बोलते हैं तो उनका भी अभाव हो गया। इसलिये क्रिया का नाम ही काल है, काल नामक कोई द्रव्य नहीं है, यह कथन संगत नहीं है।

कार्य के प्रारम्भ से कार्य की समाप्ति न होने तक की क्रियाओं को वर्तमान कहने और उससे काल द्रव्य की असिद्धि बनाने का व्यर्थ प्रयास—अगर कोई कहे कि जब से कोई काम प्रारम्भ किया और जब तक वह काम पूरा न हो, उसके बीच में वह सारा क्रिया समूह वर्तमान कहलाता है ऐसी यदि कोई शंका करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि क्रिया समूह तो तब बने कि पहले क्रिया काल कहा जाये तब फिर उनका समूह बनाया जाये और फिर जो क्षणिकवादी हैं उनमें क्रियाओं का समूह बन ही नहीं सकता। तो क्रिया समूह को काल माने और उसे वर्तमान माने, यह कैसे कोई मान सकता है ? वर्तमान जो होगा वह एक ही समय को होगा। जहाँ दो समय आये, तीन समय आये वहां भूत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और भविष्य बनाइये। पर स्याद्वादियों के यहाँ केवल वर्तना को काल मानते हैं। एक समय की स्व-सत्तानुभूति तो प्रथम समय को क्रिया यह वर्तमान हुई और द्वितीय आदिक समय को जो क्रिया होगी वह अपने-अपने समय में तो वर्तमान है, पर पूर्व की अपेक्षा भविष्य है, आगे की अपेक्षाभूत है, फिर भी द्रव्य दृष्टि से उन सबकी स्थिति मानकर समूह की कल्पना की जाती। क्रियाओं का समूह एक जगह कैसे हो सकता? द्रव्यार्थिकनय से उनको एक क्रियापने से स्थित मानकर समूह की कल्पना होती है। एकान्तवादी तो क्रियासमूह कह भी नहीं सकते और फिर जो यह कहा जाता कि क्रिया होने के बाद और काम पूरा न हो चुकने तक जितनी भी क्रियायें चल रही हैं, उसे वर्तमान कहते हैं। जैसे घड़ा बनने की क्रिया चल रही है तो वह तो अनेक समयों की बात कही जा रही फिर भी एक द्रव्यार्थ दृष्टि करके वर्तमान का प्रयोग किया जाता है। क्रिया वास्तव में तो पदार्थ की परिणति विशेष का नाम है और वह परिणति विशेष क्या पदार्थ से जुदा है क्या अलग रहती है? जैसे सर्प का टेढ़ापन सर्प से जुदा नहीं है ऐसे ही क्रियावान पदार्थ से क्रिया भिन्न नहीं है। सो जो क्रिया समूह को काल कहेंगे वहाँ न तो क्रिया बन सकती और न क्रिया समूह बन सकता और न एक क्रिया से दूसरी क्रिया का ज्ञान हो सकता, क्योंकि क्रिया तो क्षणमात्र को होती है, उसे इकट्ठा किया जा सकता, और कैसे जाना जा सकता? इस कारण क्रिया का नाम काल नहीं है, किन्तु काल नाम का द्रव्य है और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रहता है और उसका परिणमन एक एक समय चलता है।

काल द्रव्य के न होने की कल्पना में क्रिया की भी असिद्धि—यहाँ बात यह कही जा रही है कि समय का व्यवहार तो क्रियाकृत होता है मगर जो परिणमन हुआ वस्तु में उस परिणमन का निमित्त कारण काल द्रव्य की समय नामक पर्याय है, क्योंकि यदि क्रियामात्र को ही काल कह दिया जाये तो वर्तमान समय कुछ नहीं रह गया, क्योंकि वर्तमान मात्र एक समय में तो क्रिया का सद्भाव नहीं है और क्रिया समूह को अगर क्रिया कहेंगे तो क्रिया का समूह बन कैसे सकता, क्योंकि वह तो पहले हुई, बाद में हुई, और बाद में हुई। समय के अनुसार होती गई। तो समूह तो तब बनता जब वर्तमान में वे सब हों, किन्तु क्रियाओं का समूह वर्तमान में तो नहीं है, सो वर्तना क्रिया समूह भी नहीं कहा जा सकत। जो रिवाज है बहुत से समयों की क्रिया को वर्तमान में कहने का वह उपचार से कथन है। जैसे जब से कुम्हार ने चाक पर मिट्टी का लौंधा रखा तब से लेकर जब तक घड़ा नहीं बन जाता तब तक १०-१५ मिनट तक कहते हैं कि घट बनाने की क्रिया हो रही। तो उन क्रियाओं का द्रव्यार्थ दृष्टि से याने सामान्य दृष्टि से बुद्धि में समझकर विचार करके कहा जाता है, काल का अभाव लोग इसी कारण तो करते हैं कि काल कोई भिन्न रूप से उपलब्ध नहीं हो रहा, सो यदि काल को न माना जाये तो क्रिया और क्रिया समूह भी कुछ नहीं रहता।

क्रिया से क्रिया का ज्ञान न होने से काल के बिना क्रिया से सिद्धि की अशक्यता—क्रिया से दूसरी क्रिया का ज्ञान नहीं होता, किन्तु स्थिर चीज हो उस स्थिर चीज से तो कुछ ज्ञान बनाया जा सकता है पर अस्थिर और पूर्वापर समय में होने वाली घटना से अन्य काल की घटना का ज्ञान नहीं किया जा सकता। जैसे कोई मापने के बर्तन होते हैं, गेहूँ, घी, तेल आदिक जिनमें भरकर ये नाप दिये जाते हैं, उससे नापकर बता देते कि यह इतना हो गया। तो वह जो माप है प्रस्थ वह स्थिर है और उसमें जो गेहूँ आदिक भरे जाते वे भी स्थिर हैं तो स्थिर से स्थिर का विभाग तो जाना जाता परन्तु क्रिया क्षणमात्र ही रहती है, तो क्षणमात्र ठहरने वाली क्रिया से अन्य क्रिया का विभाग और ज्ञान

http://sahjanandvarnishastra.org/

कैसे किया जा सकता ? जो स्वयं अवस्थित नहीं है वह अन्य अवस्थित क्रिया का परिच्छेद कैसे हो सकता ? यदि शंकाकार यह कहे कि देखो प्रदीप तो अवस्थित नहीं है और वह भी घटादि का परिच्छेदक होता है। यह कहना यों ठीक नहीं है कि स्याद्वाद शासन में प्रदीप को या परिणमती हुई किसी वस्तु को सर्वथा क्षणिक नहीं माना गया है। दीपक जल रहा है मगर पदार्थों का जो प्रकाश हो रहा वह निरपेक्ष एक समय के दीपक से नहीं हो सकता। प्रकाशन आदिक कार्य अनेक क्षणों में साध्य होते हैं, सो अन्य क्रियाओं में तो बात निभती है पर परिच्छेद्य और परिच्छेदक भाव मायने ज्ञेय ज्ञायक भाव ये समूह में नहीं बनते, क्योंकि क्षणिक तत्व का समूह ही नहीं बन सकता।

काल के उपकारों का उपसंहार –यहाँ काल द्रव्य के उपकार कहे जा रहे हैं जिससे प्रथम वर्तना को बताया है। वह तो एक समय की जो कुछ पर्याय की अनुभूति है वह वर्तना कहलाती है। यह वर्तना कालद्रव्य में भी होती है सभी द्रव्यों में होती है। पर वर्तना लक्षण काल है, यह इस कारण से कहा है कि काल में परिणाम आदिक नहीं होते उसमें निरपेक्ष प्रति समय एक एक समय की पर्याय होती रहती है इसलिए वर्तना लक्षण काल का कहा गया है। अब आगे वर्तनाओं का जो समूह बनता है वह परिणामी कहलाता है। जैसे कोई वस्तु बदल गया अर्थात पर्याय कुछ हो गया तो यह परिणमन है। यह एक समय में नही बनता, किंतु बदल समझने के लिए पूर्व और उत्तर समय तो जानने ही पड़ेंगे। परिणाम का अर्थ यहाँ लिया गया अपरिस्पन्दरूप परिणमन याने गमन, हलन चलन ये परिणाम में विवक्षित नहीं हैं, किंतु वस्तु के गुण में जो बदल होती है पर्यायरूप से वह परिणाम कही गयी है। और जो परिस्पन्द है वह गुणों की क्रिया नहीं किन्तु प्रदेश की क्रिया है। तो परिस्पन्दरूप क्रिया परत्व अपरत्व जो उपकार बताये गये हैं सो व्यवहार में लोग कैसे कह सकते है कि यह जेठा है यह छोटा है यदि काल द्रव्य का उपकार नहीं। काल द्रव्य का उपकार है तब यह वहाँ बात है। एक बालक २ साल पहले जन्मा था, दूसरा उससे २ साल बाद जन्मा था तो उनमें परत्व अपरत्व का व्यवहार होता है। ये काल द्रव्य के उपकार कहे गये हैं।

यहाँ उपसंहार के समय काल के अभाव की चर्चा की जा रही है कि काल द्रव्य मानने की आवश्यकता क्या ? और उसी प्रसंग में प्रश्नोत्तर होते होते यह बात बताई गई कि क्रिया का समूह काल नहीं हो सकता। यो उस प्रसंग में शंकाकार कहता है कि जैसे वर्णों की जो आवाज है वह तो क्षणिक है और उनका समुदाय पद बन जाता है वाक्य भी बन जाता है तो यह कहना कहाँ तक ठीक है कि क्षणिक क्रियाओं का समूह नहीं बन सकता। किसी ने यदि आत्माराम कहा तो जिस समय आ बोला उस समय अन्य शब्द तो नहीं बोले गये, जिस समय त् बोला गया उस समय आ शब्द खतम हो गया यों अगला अगला शब्द बोला गया तो पहला पहला शब्द खतम हो गया, तो खतम हो गया। क्षणिक भी है पर उन ध्वनियों का समुदाय पद माना गया है। अगर समुदाय का ज्ञान न हो तो जो व्यवहार चल रहा, ग्रन्थलेखन चल रहा वह सब कैसे चलता ? तो जैसे क्षणिक वर्ण ध्वनियों का समुदाय पद और वाक्य बन जाता है वैसे ही क्षणिक क्रियाओं का समूह भी बन जायगा, और उसे ही वर्तमान काल कह दीजिये। तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यह शंका यों ठीक नहीं कि वर्ण ध्वनि भी क्षणिक नहीं है। वर्ण भी कथञ्चित नित्य है कथञ्चित अनित्य है। जो वर्णध्वनि अगर क्षणिक होती तो दूर देश में रहने वाले श्रोताओं को वे कैसे सुनाई देते और बल्कि बोला वर्तमान समय में और सुनाने वाला सुन रहा है उसके आगे के समय में तो वर्ण ध्वनियाँ क्षणिक हैं, यह बात नहीं बनती, यदि कोई यह कहे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति हुई और ऐसे अन्य अन्य शब्द उत्पन्न हो हो कर दूर देश में रहने वाले मनुष्यों ने जाना तो जो असली ध्वनि है वह तो नष्ट हो गई, उसने दूसरे शब्द को पैदा कर दिया था, वह भी नष्ट हो गया। उसे तीसरे शब्द को पैदा कर दिया। इस तरह दूर देश रहने वाले श्रोताओं को सुनाई देने लगता है। यह समाधान करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस क्षण में ध्वनि उत्पन्न हुई उसी क्षण में ही तो अन्य ध्वनि को पैदा नहीं कर सकते, क्योंकि उस क्षण तो वही उत्पन्न हो रही और अगले क्षण में वह ध्वनि रही नहीं, तो शब्दान्तर कैसे पैदा किया ? यह क्षणिकवादियों से चर्चा चल रही है क्षणिकवादी एक क्षण को सत् मानते हैं दूसरे क्षण नहीं। तो जो ध्वनि उत्पन्न हुई है वह वर्तमान क्षण में तो अपने आप को सत् बना रही है। दूसरे क्षण वह रहती नहीं है तो वह काल ही क्या करे ? तो इससे शब्दान्तर की उत्पत्ति का व्यवहार नहीं बन सकता।

एकांतहठ में संस्कार की असिद्धि व क्रिया के आधार पर वर्तमान की असिद्धि—यदि शंकाकार यह कहे कि पहले-पहले ज्ञान हुए, उन ज्ञानों से संस्कार बना, उन संस्कारों के आधारभूत बुद्धि में समुदाय की कल्पना हो जायगी। जैसे आ सुना और वह मिट गया मगर उससे संस्कार बना। श्रोता की बुद्धि में तो आया कि यह कहा गया फिर तू कहा, फिर मा कहा। ये मिटते जा रहे मगर सब का संस्कार तो बन रहा है। तो बुद्धि में उन ५ अक्षरों का समुदाय बना लिया, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिकवादी तो बुद्धि को भी क्षणिक मानते। यदि बुद्धि स्थिर होती तो उसमें समुदाय की कल्पना कर लेते कि अक्षरों का समुदाय तो बुद्धि में आ गया। तो जो लोग केवल नित्य ही मानते हैं, वहां बुद्धि संस्कार का आधार कैसे बन सकती क्योंकि सर्वथा नित्य में कोई परिणमन ही नहीं है और जो लोग सर्वथा अनित्य ही मानते हैं। क्षण भर को ही रहता है पदार्थ तो उनके यहाँ भी संस्कार का आधार बुद्धि नहीं बन सकता। स्याद्वाद शासन में द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य माना गया है। तो वहाँ बुद्धि भी नित्य और अनित्य दोनों रूपों को लिये हुए हैं। वहाँ संस्कार आ सकता है। क्षणिक बुद्धि में तो संस्कार भी नहीं बन सकता। तो जो सत् को नित्यानित्यात्मक बताते हैं उनके सिद्धांत में ही शक्ति और व्यक्ति रूप से व्यवस्थित क्रिया समूह के द्वारा काल का व्यपदेश बन जाता कि यह काम वर्तमान में हो रहा है। वर्तमान काल इतना सूक्ष्म काल है, एक समय वाला काल है कि उसमें कोई क्रिया ही नहीं बनती। जिन लोगों को क्रिया दिखती है वे असंख्यात समय की वर्तनाओं के समूह में देखते हैं। तो स्याद्वाद शासन में व्यवहारकाल सिद्ध होता है और उस व्यवहारकाल से, उन क्रियाओं से पदार्थों का ज्ञान होता है, और जब यह सब व्यवहारकाल है तो मुख्य काल भी कोई होना चाहिए। वह मुख्यकाल है कालद्रव्य, और काल द्रव्य की प्रतिक्षण में वर्तना होती रहती है। एक एक समय बनती रहती है। समयरूप परिणमन काल द्रव्य का है और समूह में घड़ी घण्टा दिन आदिक की कल्पना की गई है।

सूत्रोक्त उपकारों की अन्तिम मीमांसा यहाँ शंकाकार यह कह रहा था कि केवल वर्तना शब्द ही कहा जाता। उससे ही सारी परिणाम क्रिया ज्ञात हो जाती क्योंकि उन सब वर्तनाओं का समूह तो है मायने एक समय में जो पर्याय हुई है वह व्यवहार के काबिल नहीं है। मगर उनका समूह बना उसमें व्यवहार जगा है। तो आधार तो वर्तना ही हुई। सो वर्तना के सिवाय अन्य और शब्द न कहा जाना चाहिये सूत्र में। उनकी सिद्धि की कि यदि परिणाम शब्द न कहते तो व्यवहार ही न बन सकता था व्यवहार काल की बात न कहे तो कुछ समझाया ही न जा सकता था। एक समय की

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बात किसी की समझ में नहीं आ सकती। वह केवल अनुमान गम्य है। तो व्यवहार काल की सिद्धि के लिए परिणाम क्रिया वगैरह कहा गया है। अब परत्व अपरत्व की बात सोचें। इनको अलग से ग्रहण करने की क्या जरूरत थी? कोई बालक दो साल पहले पैदा हुआ, दूसरा बालक उसके २ साल बाद पैदा हुआ। यह तो समझ लिया, बस इसी समझ में परत्व अपरत्व भी समझ लिया गया। फिर इसके कहने की क्या जरूरत थी? तो यहाँ उत्तर यह है कि इसमें यह समझना चाहिये कि परत्व अपरत्व अपेक्षाकृत है। एक वस्तु में परत्व का व्यवहार कैसे हो सकता? जब तक कोई दूसरा और बुद्धि में न रखे तब तक परत्व नहीं कह सकते। जैसे कहते कि यह लड़का जेठा है तो बुद्धि में तो आया कि कोई दूसरे लड़के को भी सोच रहा है जो उससे छोटा है और उसकी अपेक्षा बताया जा रहा कि यह लड़का जेठा है किसी के एक ही लड़का हो तो उसके तो नहीं कहा जा सकता कि यह जेठा है अथवा लहुरा। तो परत्व अपरत्व व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। तो यह बात सूचित करने के लिए परत्व और अपरत्व शब्द का यहाँ अलग से ग्रहण किया गया है। द्रव्य का का उपकार बताने वाले इस प्रकरण में यह अन्तिम सूत्र है। इस सूत्र में वर्तना का सर्वप्रथम ग्रहण इसलिए किया है कि वह आदरणीय है, क्योंकि वर्तना द्वारा ही परमार्थ काल की जानकारी होती है। तो ऐसे अमूर्त पदार्थ सूक्ष्म पदार्थ की जानकारी का जो उपाय है वह आदरणीय क्यों न होगा। और उस वर्तना के अतिरिक्त जितने और उपग्रह कहे गये—परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये सब व्यवहार काल के सूचक हैं। तो व्यवहार काल की सूचना तो अप्रधान है और परमार्थ काल की जानकारी प्रधान है।

अजीव प्ररूपक प्रकृत अध्याय में अब तक वर्णित अति संक्षिप्त स्मरण—इस अधिकार में अब तक छहों द्रव्यों की विशेषतायें बताई गई हैं। उनमें कुछ अस्तिकाय हैं, कुछअस्तिकाय नहीं हैं कुछ निष्क्रिय हैं कुछ क्रियावान हैं। किस द्रव्य के कितने भेद होते हैं, किस द्रव्य में केवल एक ही प्रदेश होता है आदिक बातों का सयुक्तिक वर्णन किया। इन सब द्रव्यों का रहना कहाँ हो रहा है, किस जगह अवकाश है और कौन द्रव्य लोक के सर्वदेश में रहता है, कौन द्रव्य थोड़े प्रदेश में रहता है, इसका वर्णन किया गया। इसके पश्चात उपकार का वर्णन चल रहा था कि कौन द्रव्य का परिणमन किस द्रव्य के किस परिणमन में निमित्त होता है। यहाँ उपकार का अर्थ निमित्त मात्र होता है। धर्म अधर्म द्रव्य का उपकार गति स्थिति बताया। आकांक्षा द्रव्य का उपकार अवगाह बताया, पुद्गल के उपकार बहुत हैं क्योंकि जितना भी जो कुछ समागम दिख रहा है वह सब पुद्गल का ही तो ढेर है। और उसका निमित्त पाकर जीव में भी जो बात होती है उन्हें भी पुद्गल का उपकार कहा है। इससे मुमुक्षुजनों को यह शिक्षा मिलती है कि सुख, दुःख, जीवन, मरण, वचन, मन आदिक मेरे स्वभाव से नहीं हुए, ये मेरे में उपकार नहीं हैं, किन्तु कर्म विपाक का निमित्त पाकर ये अवस्थाएं बनी हैं। निमित्त भाव से हटकर स्वभाव भाव में आने को यह निमित्त नैमित्तिक भाव और भी प्रेरणा देता है। इसके बाद जीवों का उपकार बताया कि वे एक दूसरे का परिणमन करें, सहयोग दें और अन्त में यह काल द्रव्य का उपकार कहा है कि किन-किन बातों का निमित्त काल द्रव्य होता है। इस प्रकार सब द्रव्यों का उपकार बताया। अब आगे इन सब द्रव्यों में सामने आये हुए दृश्य और उनके साथ अदृश्य इन पुद्गलों का लक्षण कहा जायगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com